

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186359

UNIVERSAL
LIBRARY

ANIA UNIVERSITY LIBRARY

0.9

51A

Accession No.

G. 1092

अत, त्रिलोकी नारायण

मुनिक हिन्दी में आलोचना साक्ष्य

be returned on or before the date last marked below.

आधुनिक हिन्दी में आलोचना साहित्य

आलोचना साहित्य में
त्रिलोकीनारायण दीक्षित

प्रकाशक
अवध पब्लिशिंग हाउस
९२ लाटूश रोड, लखनऊ

मूल्य एक रुपया

मुद्रक

प० भृगुराज भागव
भागव-प्रिंटिंग-वर्क्स, लखनऊ

उपक्रम

आधुनिक काल में हिन्दी-भाषा तथा साहित्य की यथेष्ट उन्नति हुई हर्ष का विषय है कि वह तीव्र गति से उच्चतम स्तर की ओर अग्रसर दृष्टिगोचर होता है। उसका विकास प्रकाश उत्साहवर्धक है। इस विकास काल में साहित्य की बहुमुखी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इस उन्नति और विकास में प्रायः सभी प्रकार के लेखकों का कलात्मक सहयोग रहा है। न केवल 'कवयः निरंकुश' होते हैं, वरन् प्रायः निरंकुशता साहित्यिकों के स्वभाव की एक विशेषता होती है। यही 'निरंकुशता' साहित्यिक विशृंखलताओं की जन्मदात्री अथवा उत्पादक कही जा सकती है। साहित्यिक निरंकुशता तथा विशृंखलताओं को दूर करके सुष्ठु सत्साहित्य के सृजन के हेतु आलोचना का विशेष महत्व तथा आवश्यकता प्रतीत हुआ करती है। वर्तमान अनेक 'वादों' के 'दलदन' के मध्य से साहित्य-पथ का पथिक हिन्दी के लिये स्वच्छ निर्वाध मार्ग की आवश्यकता का अनुभव करता है, जो आलोचना के द्वारा सुगम तथा साध्य प्रतीत होता है। वर्तमान काल में साहित्य के पठन पाठन के हेतु जिन वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग होने लगा है, उसमें आलोचनात्मक शैली का प्रमुख स्थान है। वर्तमान साहित्यिक समय को यदि एक आलोचनात्मक युग कहें तो असंगत न होगा। अत्युक्ति न होगी यदि कहें कि आलोचना, साहित्य कलेवर का एक आवश्यक तथा प्रमुख अंग है। वास्तव में, साहित्य की श्रीवृद्धि के हेतु आलोचना अनिवार्य साधन है।

कहा जा चुका है कि वर्तमान साहित्यिक युग, एक आलोचनात्मक युग है। फलतः प्रायः सभी ओर उसके प्रति अभिरुचि दृष्टिगोचर होती है। आलोचनात्मक शैली अध्ययन को एक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करती है। समुचित ज्ञान तथा अध्ययन यदि वैज्ञानिक रीति पर अवलम्बित है तो सुव्यवस्थित तथा स्पष्ट प्रतीत होगा।

आलोचना साहित्य को न केवल वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करती है, वरन् एक नवीन स्फूर्तिदायक भी है। यह नवीन स्फूर्ति साहित्य की पुति

में महती सहायता प्रदान करती है। आलोचना साहित्यिक नीर-लीर को अलग अलग प्रदर्शित कर देने का उत्तम साधन है। आलोचना साहित्य को परिमार्जित करके उसे कमनीय कान्ति प्रदान करती है।

आलोचना का इतना महत्व होने के कारण, उसके शास्त्रीय अध्ययन की महान् आवश्यकता है। आलोचना का जन्म मानव अभिरुचि के साथ हुआ। भाष्य तथा टीकाओं में उसका प्रारम्भिक स्वरूप प्रदर्शित होता है। भारतेन्दु युग में उसकी शैशवावस्था के दर्शन होते हैं और द्विवेदी-युग से आज तक उसका विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। आजकल नवीन प्रवृत्तियों के समावेश तथा अन्य साहित्यों की आलोचना पद्धति के प्रभाव से हमारा आलोचना-साहित्य अत्यन्त विस्तृत तथा परिष्कृत स्वरूप को प्राप्त हुआ है, परन्तु उसके वैज्ञानिक, सुसंस्कृत तथा सुव्यवस्थित रूप से बहुत कम आलोचक परिचित हैं। वह बिना आलोचना के सिद्धान्तों तथा गम्भीर अध्ययन के ही आलोचना लिखने का कार्य प्रारम्भ कर देते हैं।

आलोचक के गुण, कर्म, तथा कर्तव्य; आलोचना के मुख्य उद्देश्य इत्यादि बातों के ज्ञान से रहित आलोचक की (रचना) आलोचना महत्व की दृष्टि से केवल प्रशंसा अथवा दोषों की सूचीमात्र, अथवा साहित्यिक विज्ञापन होता है। हमारे साहित्य में आलोचना और उसके आवश्यकीय तत्वों पर अत्यन्त अल्प मात्रा में प्रकाश डाला गया है। इस विषय पर जो पुस्तकें उपलब्ध भी होती हैं वे मुख्यतः रुढ़िगत आलोचना (Conventional Criticism) हैं।

आलोचना साहित्य में पथ-प्रदर्शक का सा कार्य करती है। अच्छे पथ-प्रदर्शक के अभाव में जो भी फल होते हैं; वह सभी एक विशद आलोचना के अभाव में प्रदर्शित होते हैं।

इसी कारण आलोचना साहित्य को सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों पर प्रकाश डालने की आवश्यकता समझकर तथा इस अभाव का आधार लेकर हिन्दी-आलोचना साहित्य के क्रमिक विकास के अध्ययन को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

—लेखक

विषय-सूची

१—आलोचना तथा उसका स्वरूप	१
२—आलोचना के भेद	७
३—आलोचना का क्रमिक विकास	२०
४—काव्य की आलोचना	३५
५—जीवन-चरित्र की आलोचना	४१
६—निबन्ध साहित्य की आलोचना	५१
७—कहानी साहित्य की आलोचना	५६
८—उपन्यास की आलोचना	५७
९—हिन्दी के प्रमुख आलोचक	५८
१०—पुस्तक समालोचना	६७
११—वर्तमान परिस्थितियाँ	७०
१२—उपसंहार	८३

परिशिष्ट लेखक-सूची

अम्बिकादत्त व्यास
अम्बिकादत्त त्रिपाठी
करुणापति त्रिपाठी
कालिदास कपूर
किशोरीलाल गोस्वामी
केसरी नारायण शुक्ल डा०
कृष्णानन्द गुप्त
कृष्णविहारी मिश्र
गुलाबराय एम० ए०
गोपालवल्लभ
गोपीनाथ भट्ट
जगन्नाथ शर्मा, डा०
जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी
जनार्दन झा, डा०
दीनदयाल गुप्त, डा०
धीरेन्द्र वर्मा
नन्ददुलारे वाजपेई
'निराला'
पद्मसिंह शर्मा
पानाम्बरदत्त बड़ुवाल, डा०
पदुमलाल पु० ला० बख्शी
पाण्डेय, चन्द्रबन्नी
प्रेमघन
प्राजपनारायण मिश्र
प्रेमनागयण टण्डन
बालकृष्ण भट्ट

बालमुकुन्द गुप्त
ब्रजवासीदास
ब्रजरत्नदास
बाबूराम सक्सेना
विश्वनाथप्रसाद मिश्र
वाष्णोय, डा०
विनोदशंकर व्यास
भगवानदीन, ला०
भगवतीचरण वर्मा
महावीरप्रसाद द्विवेदी
माताप्रसाद गुप्त, डा०
महादेवी वर्मा
मैथिलीशरण गुप्त
रघुपतिसहाय
रामविलास शर्मा, डा०
रामकुमार वर्मा, डा०
रामचन्द्र शुक्ल आचार्य
'रसाल', डा०
श्यामविहारी मिश्र तथा
शुकदेव विहारी मिश्र
शान्तिप्रिय दिवेदी
श्यामसुन्दरदास, डा०
सूर्यकान्त शास्त्री
हजारीप्रसाद
हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु
हरीकृष्ण 'प्रेमा'

आलोचना तथा उसका स्वरूप

संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ 'सिद्धान्त कौमुदी' के 'नन्दग्रहपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' सूत्र के अनुसार आलोचना शब्द संस्कृत के 'लुच्' धातु से बना है। 'लुच्' धातु के आगे 'ल्यु' प्रत्यय लगता है; कारण कि, 'लुच्' धातु नन्द, ग्रह तथा पच् इत्यादि धातुओं के अन्तर्गत है। इस 'ल्यु' प्रत्यय से 'लशक्तद्धिते तस्य लोपः' सूत्र के अनुसार 'ल्' का लोप हो जाता है। तब केवल 'यु' शेष रह जाता है, जिसके स्थान पर 'अन्' आदेश होता है। 'अन्' के प्रभाव से धातु की उपधा (प्रथम स्वर) का गुण होकर 'लोच्' बनता है। 'अन्' से मिल कर 'लोचन' शब्द के रूप को धारण कर लेता है। 'लोचन' का अर्थ देखनेवाला होता है। "आङमर्यादाऽभिविधौ" के अनुसार 'आङ' के 'ङ्' का लोप होकर 'आ' अवशिष्ट रह जाता है। और यह 'आ' 'लोचन' के पूर्व जुड़कर "आलोचन" बनता है और अन्त में 'टाप्' प्रत्यय लग कर 'आलोचना' बन जाता है। इस प्रकार 'आलोचना' जिन शब्दों और धातुओं के संयोग से बना, 'देखने की विशेष व्यवस्था' के अर्थ का द्योतक है। किसी वस्तु की आलोचना करने का अर्थ है उसके सांगोपांग बाह्याभ्यान्तरिक सुक्ष्मातिसूक्ष्म बातों को देख कर मत निर्धारित करना।

आलोचना शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करने के पश्चात् यह ध्यान होता है कि 'आलोचना है क्या' ? आलोचना क्या है इसका बहुत कुछ आभास उसकी उपर्युक्त व्याकरणात्मक व्याख्या तथा व्युत्पत्ति से

मिल जाता है। डा० श्यामसुन्दर दास ने आलोचना की परिभाषा इस प्रकार दी है :—“साहित्य क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ़ कर उसके गुण तथा दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है।”^१

डा० रमाशंकर शुक्ल ‘रसाल’ के मतानुसार “आलोचना किसी वस्तु के सम्यक् प्रकार से देखने की एक विशेष व्यवस्था अथवा विधि है।”^२

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा आलोचना के लक्ष्य संकेत में आलोचना की परिभाषा की झलक मिलती है “समालोचना का उद्देश्य साहित्यिक गुण दोष विवेचन समझा जाता है।”^३

इन परिभाषाओं के अतिरिक्त अन्य विद्वानों द्वारा निर्धारित परिभाषाएँ भी विचारणीय हैं।^४

श्री सूर्यकान्त शास्त्री के अनुसार “आलोचना का तात्पर्य साहित्यिक रचना का अन्तर्भाष्य है।”^५

प्रो० हर्बर्ट रीड (Prof. Herbert Reed) का मत है कि “साहित्यिक समालोचना वह है, जो कला के उत्पाद्य का प्रादुर्भाव व्यक्ति के मनोविज्ञान और समाज के आर्थिक स्थान में ढूँढ़ती है।”^६

१—साहित्यालोचन ।

२—आलोचनादर्श ।

३—हिन्दी साहित्य का इतिहास—शुक्ल जी ।

४—डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में आलोचना की परिभाषा इस प्रकार है :—

“आलोचना साहित्य में गूढ़तम भावनाओं का पता लगाती है।”

५—साहित्य मीमांसा ।

६—साहित्य मीमांसा पृष्ठ ३६० ।

अंग्रेज़ी साहित्य के सुप्रसिद्ध निबन्धकार विलियम हैज़लिट (William Hazlitt) के मतानुसार “समालोचना का काम कालान्वित रचनाओं के विशेष गुणों को पहचानना और उनका लक्षण करना है ।”^१

अंग्रेज़ी साहित्य के मर्मज्ञों में विलियम हेनरी हडसन सर्वमान्य आलोचक हैं । विलियम हेनरी हडसन (William Henry Hudson) ने अपनी पुस्तक ‘इंट्रोडक्शन टु दी स्टडी आफ़ लिटरेचर (An Introduction to the Study of Literature) में आलोचना की सुन्दर परिभाषा दी है जिसका मूल पाठ इस प्रकार है ।^२

इस प्रकार इन सभी परिभाषाओं पर विचार करने से उनके मूल में एक ही तत्व निहित पाते हैं कि साहित्यिक रचना के गुण दोष निर्देशन को ही आलोचना कहते हैं । परन्तु आजकल की आलोचना केवल ‘गुणदोष’ के संकेत तक ही नहीं सीमित है वरन् उससे भी कुछ अधिक । वर्तमान काल में आलोचक एक मार्गप्रदर्शक, सहानुभूति-प्रकाशक का भी व्यक्तित्व धारण किये है । एक आलोचक का कार्य

१—वही पृष्ठ ३५० ।

२—In strict sense the word criticism means Judgment, and this sense commonly colours our sense of it even when it is mostly broadly employed.... If creative literature may be defined as an interpretation of life under various forms of literary art, critical literature may be defined as an interpretation of that interpretation. and of the forms of art through which it is given ”

Introduction to Study of Literature. P. 346.

क्या है ? इसके भी भिन्न-भिन्न उत्तर हैं । कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि 'आलोचक' का काम केवल कृति की व्याख्या करना है, उसे स्वमत प्रदर्शित नहीं करना चाहिये । कारण कि उस मत से अन्य प्रभावित होते हैं जिससे आगे चल कर आलोचना के कार्य में बाधा पड़ती है ।'

अब प्रश्न हो सकता है कि आलोचक के कर्तव्य क्या हैं । उसे किस प्रकार के लक्षणों से युक्त होना चाहिये ? डा० श्यामसुन्दरदास के मत से "आलोचक को विद्वान्, बुद्धिमान्, गुणग्राही और निष्पक्ष होना चाहिये । जिसमें ये गुण न हों उसको समालोचना-कार्य से दूर ही रहना चाहिये ।"१ आलोचक के गुणों की यह सूची सुचारु होते हुए भी पूर्ण नहीं है । यह सत्य है कि यदि आलोचक विद्वान् नहीं है तो वह आलोच्य कृति को समझेगा क्या ? उसका बुद्धिमान् होना भी परमावश्यक है । मानव बुद्धिप्रधान प्राणी है । अतः इसके अभाव में वह 'मनुष्यरूपेण मृगश्चरन्ति' है । उसका गुणग्राही और निष्पक्ष होना भी आवश्यक है । पक्षपातपूर्ण आलोचना का मूल्य साहित्यिक विज्ञापन से अधिक नहीं होगा । इन अवगुणों के कारण साहित्यिक सौंदर्य परखने में बाधा होती है । पोप (Pope) तथा एडिसन (Adison) के आदर्शों से जानसन (Johnson) सदैव सहमत रहता था । इसी कारण वह उनकी रचनाओं पर बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकाश डाल सका और मिल्टन (Milton) से मतभेद होने के कारण उसे 'पैराडाइज़ लास्ट' (Paradise Lost) जैसा महाकाव्य भी सारहीन लगा । टी० एस० ईलियट (T. S. Eliot) के अनुसार "विचारवान् समालोचक वह है जो कला की वर्तमान समस्याओं में रत रहता हो और अतीत की शक्तियों को उन समस्याओं

के हल करने में जोड़ता हो।^१ एलिस मिनल (Alice Minel) ने आलोचकों की एक बृहद सूची उपस्थित की जिसमें 'सुनिश्चितता, स्वातंत्र्य, उदात्तता, एकान्तवासी पाठक, गम्भीरता' आदि पर अधिक जोर दिया गया है।^२

हिन्दी और अंग्रेज़ी विद्वानों के मतों का उल्लेख हो चुका है परन्तु उनके मतों में आलोचक के पूरे आवश्यक तत्वों का उल्लेख नहीं है। संस्कृत आचार्यों ने समालोचक को 'सहृदय' कहा है। अर्थात् कवि के समान ही आलोचक को भी सहृदय होना चाहिये जिससे वह उसकी परिस्थिति में पड़ कर उसके काव्य का विवेचन सहानुभूति-पूर्वक कर सके। आलोचक में इस गुण की बड़ी आवश्यकता समझी जाती है।

आलोचक का क्या महत्व होता है, यह कोई छिपी बात नहीं है। आलोचक का महत्व उसके कर्तव्य पर आश्रित रहता है। आलोचक के ही कारण हमें किसी रचना के अवगुण तथा गुणों का पता चलता है। सामान्य योग्यता वाले पाठक के लिये आलोचक पथप्रदर्शक का काम करता है और उसके साहित्यिक संकेत साधारणतः पाठक को पठन पाठन में अग्रसर करते हैं। आलोचक प्रायः रचना में उन सूक्ष्म बातों को खोज निकालता है जिनका रचयिता को भी ध्यान नहीं रहता। यह निःसन्देह सभी मानेंगे कि जिस प्रकार रचयिता साहित्यस्रष्टा होता है उसी प्रकार आलोचक भी। जितना सौंदर्य कवि नहीं प्रकट कर पाते उससे कई गुना अधिक उसके आलोचक प्रदर्शित करते हैं। कालिदास के शकुन्तला पर कितना आलोचनात्मक साहित्य लिखा जा चुका, यह विचारणीय बात है। आलोचक के कर्तव्य बताते हुए

१—साहित्य मीमांसा पृष्ठ ३४६ ।

२— „ „ „ ३४६ ।

श्री सूर्यकान्त शास्त्री इस प्रकार लिखते हैं:—“अपनी आँखों के सम्मुख भग्न होने वाले मन्तव्यों के बीच में, आर्थिक, सामाजिक तथा चारित्रिक आदर्शों के गिरने की तड़ातड़ में विज्ञापन तथा व्यवसाय द्वारा द्विगुणित हुई मृगतृष्णा की ज्वाला में, राजनीति के घातक दाँव पेचों में, तानाशाही के निरंकुश प्रसार में विघटन, विभंग तथा विच्छेद के संक्रामक संकुल में यह काम एक मनस्वी आलोचक ही का है, कि वह व्याकुल समाज को जीवन का सरल, स्पष्ट तथा कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित करे।”^१ उपर्युक्त कथन से आलोचक के महत्व का अच्छा आभास मिलता है।

गोस्वामीजी को इस संसार से बिदा हुये प्रायः ४०० वर्ष बीत गये। तब से उनके ‘मानस’ में असंख्य भक्तों ने अवगाहन करके मुक्ति का मार्ग खोजा। सूर के ‘सागर’ में निमज्जित सहस्रों भक्तों को तादात्म्य का अनुभव हुआ। पर यदि उनके आलोचकों का अभाव होता तो हमें कौन बतलाता कि वे केवल भक्त ही नहीं वरन् महाकवि भी थे।

संस्कृत में ‘काव्य मीमांसा’कार राजशेखर ने आलोचकों के चार प्रकार माने हैं। आचार्य राजशेखर का कथन है कि भावक दो प्रकार के होते हैं—‘मत्सरी तथा तत्वाभिनिवेशी।’ आचार्य मंगल का भी मत है, कि भावक दो प्रकार के होते हैं—आरोचकी तथा सतृणाभाव-हारी।^२ इस प्रकार आलोचक के चार प्रकार होते हैं। आरोचकी आलोचकों को काव्यादि नहीं रुचता। उन्हें रचना में दोष ही देख पड़ते हैं। राजशेखर का कथन है कि आरोचकी समीक्षकों में आरोचकृता

१—साहित्य मीमांसा पृष्ठ ३५४।

२—“ते च द्विधाऽरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च” इति मंगलः
..... “चतुधा” इति मायावरीमः मत्सरिणस्तत्वाभिनिवेशिनश्चा।

दो प्रकार से होती है—१. नैसर्गिक और २. ज्ञानयोनि । नैसर्गिक आरोचकित के कारण आलोचक को कोई भी आलोचना अच्छी नहीं लगती । जिस आलोचक में ज्ञान के कारण आरोचकिता आ गई है उसे विशिष्ट रचनाएँ सुन्दर लग सकती हैं । सतृणा-भवहारी आलोचक नीर-क्षीर-विवेक की शक्ति न होने पर असफल आलोचक रहता है ।

अब हमें आलोचना की उपयोगिता पर प्रकाश डालना है । साहित्य-वृद्धि में विशेष रूपेण उपयोगी होने के साथ ही आलोचना अयोग्य और अनुपयुक्त लेखकों के हेतु नियंत्रण का कार्य करती है । साहित्य की सीमा और मर्यादारक्षा के लिये आलोचना आवश्यक साधन है । आलोचना की उपयोगिता का चित्रण विलियम हेनरी हडसन (William Henry Hudson) ने इस प्रकार किया है—

“The chief function of criticism is to enlighten and stimulate. If a great poet makes us partakers of his large sense of the meaning of life, a great critic may make us partakers of his larger sense of the meaning of literature”

Introduction to Study of Literature P. 354.

आलोचना के भेद

आलोचना के जन्म का इतिहास मानव-रुचि का इतिहास है । बिना किसी प्रकार की शिक्षा, प्रकृति से ही मानव वर्ग सौंदर्य का उपासक तथा माधुर्य का इच्छुक रहा है । मनुष्य ‘सत्य’ प्रिय जीव है परन्तु उसे

अप्रिय सत्य सहिष्णु नहीं है। सौंदर्यानुभूति ही उसकी वास्तव में सबसे बड़ी पिपासा है। साथ ही साथ वह सतत उसके हेतु प्रयत्नशील रहता है। सभी वस्तुओं के स्वरूप को उद्घाटित करने के हेतु प्रकाश की आवश्यकता है। आलोक के अभाव में समस्त वस्तुओं पर अंधकार का साम्राज्य स्थापित रहता है। उसी प्रकार आलोचना साहित्य सौंदर्य को प्रकाश में लाती है। साहित्यिक विषयों में भी मानव प्रवृत्ति सदैव सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की ओर रही है। आलोचना, मानव की जन्म-सिद्ध शक्ति है। प्रत्येक काल में मनुष्य की आलोचनात्मक अभिरुचि बनी ही रही है, उनके दृष्टिकोण में अन्तर भले ही रहा हो। भिन्न-भिन्न रुचिवान् मनुष्यों की आलोचनात्मक शैलियाँ भी भिन्न रही हैं। यह तथ्य हमें आधुनिक हिन्दी के आलोचना साहित्य में भली-भाँति दिखाई देता है। आधुनिक आलोचना साहित्य में कई प्रकार की शैलियों का प्रयोग होता है।

आलोचना शैली के भेद हमारे हिन्दी साहित्य के हेतु कोई नवीनता नहीं है। कारण कि 'काव्य मीमांसा' के रचयिता महापंडित राजशेखर ने आज से बहुत समय पूर्व संस्कृत आलोचना पद्धति के भेद अंकित किये थे।

ठीक यही बात पाश्चात्य आलोचना शैली के साथ है। उसके भी भेद हो चुके हैं।

श्री० डा० श्यामसुन्दरदास के मतानुसार आधुनिक आलोचना के चार भेद माने जाते हैं:—सैद्धान्तिक (Speculative), व्याख्यात्मक (Inductive), निर्णयात्मक (judicial), स्वतंत्र अथवा आत्मप्रधान (Free or Subjective)।

आलोचना में उपर्युक्त चारों अथवा एक से अधिक का सम्मिश्रण पाया जाता है। डा० श्यामसुन्दरदास के मतानुसार 'आधुनिक आलोचना की यह विशेषता है कि वह विस्तृत अथवा सार्वदेशिक तथा सर्व-

कालीन साहित्य को अपना आधार बनाती है। यह बात प्राचीन अथवा परंपरा भुक्त समालोचना में नहीं मिलती।' फलतः साहित्याभिरुचि के साथ आलोचना की भी व्यापकता होती जा रही है।

सैद्धान्तिक (Speculative) आलोचना में साहित्य के भिन्न-भिन्न रूपों के विवेचन के द्वारा साहित्यिक सिद्धान्त निर्धारित होते हैं। यह आलोचना का शास्त्रीय पक्ष या आलोचना का चिरन्तन स्वरूप है। साथ ही साहित्य का मापदण्ड उपस्थित क की है। आलोच्य की आलोचना प्रारम्भ करने के पूर्व आवश्यक है कि उसकी आलोचना के हेतु सिद्धान्त निर्धारित किये जायँ। इससे स्पष्ट होता है कि सैद्धान्तिक आलोचना का प्रमुख कर्तव्य है; सिद्धान्तों की स्थापना करना। फलतः इसका विषय है काव्य की आत्मा तथा उसके स्वरूप का विश्लेषण करना। रस क्या है? साहित्य और कला का क्या सम्बन्ध है? कविता क्या है? इत्यादि अनेक विषयों का विश्लेषण करके उसी के आधार पर मत अथवा नियमों का निर्माण करना ही सैद्धान्तिक आलोचना का प्रमुख कर्तव्य है।

विभिन्न युगों की सैद्धान्तिक आलोचनाएँ उन युगों के साहित्यिक इतिहास की द्योतक होती हैं। न केवल साहित्यिक इतिहास वरन् उस युग के साहित्यिक वातावरण पर भी प्रकाश डालती हैं। सैद्धान्तिक आलोचना द्वारा निर्धारित नियमों में समय तथा वर्ग का ध्यान बहुधा नहीं होता; कारण कि नियम साहित्य पर अवलम्बित हैं; न कि व्यक्तिगत आलोचक अथवा लेखक पर।

'भूल' मानव वर्ग का प्रतीक है। अतः जब इस प्रकार की आलोचना से निर्धारित नियमों में दोष दृष्टिगोचर हो तो जान लेना चाहिये कि यह साहित्य की नहीं वरन् आलोचक की भूल है।

सैद्धान्तिक आलोचना का बाहुल्य पुरानी टीकाओं और भाष्यों में पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता। इस प्रकार की आलोचना का स्वरूप हमें

‘साहित्य दर्पण’, ‘रसगंगाधर’, इत्यादि ग्रन्थों तथा हिन्दी के ‘साहित्यालोचन’, ‘वाङ्मय विमर्श’, ‘काव्य में अभिव्यञ्जनावानाद’ आदि पुस्तकों में उपलब्ध होता है। अंग्रेजी साहित्य में भी इस प्रकार की बहुत-सी उल्लेखनीय पुस्तकें हैं।^१ इस प्रकार की आलोचना किसी समय अथवा काल के पास में बद्ध नहीं है। प्रत्येक समय में तथा प्रत्येक साहित्य में इस प्रकार की आलोचनाएँ लिखी गई हैं।

आधुनिक काल के सैद्धान्तिक आलोचकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं श्रीश्यामसुन्दरदास, श्रीविश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

सैद्धान्तिक आलोचना का एक उदाहरण इस प्रकार है:—

“जगत्प्रसिद्ध अस्तू ने काव्य के कितने ही उपविभाग किये हैं। जो पश्चिम में अब तक व्यापक रीति से मान्य हैं।***अस्तु यह कह देना आवश्यक होगा कि ये विभाग तात्त्विक आधार पर स्थित नहीं हैं।”^२

व्याख्यात्मक (Inductive) आलोचना में साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण और व्याख्या की जाती है। इस आलोचना की विशेषता उसकी व्याख्या पर केन्द्रित है। सैद्धान्तिक, निर्णयात्मक तथा स्वतंत्र अथवा आत्मप्रधान आलोचनाओं के मूल में व्याख्यात्मक आलोचना का प्रमुख अंश रहता है। सामान्य सिद्धान्तों तथा निष्कर्ष तक पहुँचने के हेतु व्याख्या का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।

इस आलोचना में आलोचक एक अन्वेषक के रूप में कार्य करता है, न कि एक न्यायाधीश अथवा वकील की भाँति; जैसा निर्णयात्मक

१—Mathew Arnold's Essay In Criticism. And Genning's. The Evolution of Figure of Speech.

२—साहित्यालोचन पृष्ठ ७५।

तथा तुलनात्मक आलोचना में होता है। आलोचक रचना की आत्मा में प्रवेश पाकर उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का उल्लेख करता है। वह न केवल रचना वरन् रचयिता और उसके शैली इत्यादि सभी बातों पर उदारतापूर्वक प्रकाश डालता है; और एक सामान्य धारणा का निर्माण करता है। इस आलोचना के विषय में डा० श्यामसुन्दरदास का मत है '.....ऐसी आलोचना उदारतापूर्ण तथा प्रस्तुत रचना के पूर्ण पर्यवेक्षण पर अवलम्बित होती है। अतः वह न्यायपूर्ण और बुद्धिसंगत होती है। इसीलिए ऐसी समालोचना आजकल श्रेष्ठ और उपयुक्त मानी जाती है।'

कुछ पाश्चात्य तथा हिन्दी के विद्वानों का मत है कि इस प्रकार की आलोचना रचना के साहित्यिक सौंदर्य को नष्ट करके अपने कार्य को सिद्ध करती है। बात असंगत भी नहीं है। परन्तु साथ में यह भी उल्लेखनीय है कि व्याख्यात्मक आलोचना केवल साहित्यिक सौंदर्य को नष्ट न करके पाठक को उसके आन्तरिक रूप को दिखा देती है।

व्याख्यात्मक आलोचना में प्रायः अनेक दोष आ जाते हैं। अनेक कारणों में आलोचक की असावधानी प्रमुख कारण है। अतः आवश्यक यह है कि इस प्रकार की आलोचना करते समय आलोचक रचना के अन्तर्गत आए हुए साक्ष्य के आधार पर व्याख्या करें। बाह्य साक्ष्य या अपनी ओर से साक्ष्य का निर्माण न किया गया हो। दूसरे आलोचक को सतत गुण, दोष अन्वेषण में लीन न रहना चाहिए। रचना जैसी है, वैसी ही जान कर उसी दृष्टिकोण से उसे देखना चाहिए। तीसरे रचना को एक समष्टि रूप में ही लेकर देखना चाहिए, थोड़ा थोड़ा भाग लेकर नहीं।

आचार्य शुक्ल जी की व्याख्यात्मक आलोचना में हमें उपर्युक्त

तीनों गुण उपलब्ध होते हैं। आचार्य शुक्लजी की व्याख्यात्मक शैली का सबसे बड़ा परिचायक 'सूरदास' तथा 'त्रिवेणी' है जिसमें उन्होंने एक अन्वेषक विद्यार्थी की भाँति प्रत्येक कवि की आलोचना की है। उनकी व्याख्यात्मक आलोचना का प्रमुख गुण यह है कि आलोच्य की व्याख्या इतनी सुलझी तथा स्पष्ट होती है कि उसके पठन में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं प्रतीत होती। आचार्य शुक्लजी की धारणा थी कि कवि अपनी रचना और जगत् का स्रष्टा है। उसको अन्य कवियों की तुलना में असफल स्रष्टा अथवा असफल कवि नहीं समझना चाहिये। वास्तव में एक कवि स्वयं अपने भावों का उत्तरदायी है और वही उसका वास्तविक स्वरूप है। उसको अन्य दृष्टिकोण से देखना अन्याय होगा। यही व्याख्यात्मक आलोचना की सबसे बड़ी आवश्यकता है। व्याख्यात्मक आलोचना का ध्येय 'प्रकार के भेदों' को देखना है। उनमें 'कोटि का भेद' देखना तुलनात्मक आलोचना का कार्य है।

व्याख्यात्मक शैली को ग्रहण करनेवाले आलोचकों के लिये आवश्यक यह है कि वह उदार हो। प्रायः जब कोई लेखक या कवि साहित्य के निर्धारित सिद्धान्तों से हटकर अपनी बुद्धि द्वारा प्रेरित सिद्धान्त पर चलता है तो आलोचक उसे निरंकुश या दोष-पूर्ण कह देते हैं। पर आलोचकों को उदारवृत्ति से काम लेना अधिक न्यायसंगत है। सम्भव है कि कवि-निर्मित नियम शुद्ध हो। दूसरे, प्रायः आलोचक रचना में ऐसी ऐसी बातें खोज निकालते हैं, जिनका ध्यान स्वयम् कवि को भी नहीं होता। परन्तु आलोचक को ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के नये विचार तथा अर्थ, रचना के अन्तर्साक्ष्य पर अवलम्बित हों, उनके विरुद्ध नहीं। आधुनिक हिन्दी के व्याख्यात्मक आलोचना-शैली के प्रमुख लेखकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय आचार्य शुक्लजी, डा० श्यामसुन्दरदास तथा श्रीमिश्रबन्धु हैं।

व्याख्यात्मक आलोचना की रचना द्विवेदी-युग तथा वर्तमान-युग

में अधिक मिलती है । इसके प्रारम्भिक स्वरूप के दर्शन भाष्य तथा टीकाओं में होते हैं ।

व्याख्यात्मक आलोचना का एक उदाहरण इस प्रकार है:—

“प्रेम का आरम्भ उभय पक्ष में सम है । आगे चलकर कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उसमें कुछ विषमता दिखाई पड़ती है । कृष्ण यद्यपि गोपिकाओं को नहीं भूले... । पहले कहा जा चुका है कि शृंगार... के क्षेत्र में सूर...को और नहीं पा सका ।”^१

निर्णयात्मक (Judicial) आलोचना में सामान्य निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर रचनाओं का साहित्यिक मूल्यांकन किया जाता है । व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक जिज्ञासु की भाँति अन्वेषणा करता है, परन्तु निर्णयात्मक आलोचना में आलोचक एक पटु, ज्ञानवान न्यायाधीश की भाँति अपना निर्णय उपस्थित करता रहता है । यदि व्याख्यात्मक आलोचक खोज करता है कि ‘साहित्य का कला से कैसा सम्बन्ध है’ तो निर्णयात्मक आलोचक प्रस्ताव रूप से कहता है कि ‘साहित्य का कला से सम्बन्ध इस प्रकार से इस प्रकार होना चाहिये’ । व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक नवीन दृष्टिकोण से भी रचना की नई-नई बातों को खोजता है, परन्तु निर्णयात्मक आलोचक रचना को निश्चित आदर्श के रूप में देखना चाहता है, और उस पर नियंत्रण रखना चाहता है । एक प्रगतिवादी है, तो दूसरा रूढ़िवादी । एक गति है, तो दूसरा शान्ति ।

इस प्रकार की आलोचना साहित्य के लिए विशेष उपयोगी नहीं है । यह शैली साहित्य की प्रगति में बाधक प्रमाणित होती है । डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में “यह समालोचना एक भ्रम से पूर्ण है । अंग्रेजी शब्दों का अनुकरण करते हुए हम इसको “मूल्य का भ्रम”

कह सकते हैं। समालोचक कला के पूर्ण स्वरूप—उपादान, उपकरण, माध्यम—का मूल्य निर्धारण का विषय बन सकता है, सब नहीं। जैसे किसी चित्रकार के द्वारा प्रकाश का प्रयोग विश्लेषण तथा मूल्य-निर्धारण का विषय हो सकता है, परन्तु स्वयं प्रकाश नहीं; अतः कला का जो रूप और अंश इस प्रकार की आलोचना के लिये उपयुक्त है, उतना ही इसका विषय होना चाहिये, सम्पूर्ण को एक ही मापदण्ड से नापना भ्रामक है।”

प्रश्न यह होता है कि निर्णय देने के लिए किस प्रकार का प्रामाणिक मापदण्ड हो। इस पर दो मत हैं। एक साहित्यिक समाज तो, किसी समालोचक संस्था द्वारा निर्धारित मापदण्ड को प्रमाणित मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों में आर्नाल्ड (Arnold) इसी मत का परिपोषक था। दूसरा मत यह है कि समालोचना में भी अन्तःकरण का सहयोग होना चाहिये। इस मत का समर्थक कोर्ट-होप (Court Hope) था।

इस प्रकार की आलोचना बिना व्याख्या तथा न्यायपूर्ण नहीं होती है। आलोचक अपने मत तथा विचारों से रचना के गुण, दोषों को एक प्रकार से ढक सा लेता है। इस प्रकार की आलोचना में वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण नहीं किया जाता है।

हिन्दी साहित्य में आजकल इस प्रकार की आलोचना का आधिक्य है। पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० कृष्णविहारी मिश्र, मिश्रबन्धु तथा ला० भगवानदीन इत्यादि इस शैली के प्रमुख लेखक हैं। सम्भवतः इस प्रकार की आलोचना का स्वरूप न तो भारतेन्दु युग और न उसके पूर्व उपलब्ध होता है। इस प्रकार की आलोचना-शैली का अब पाश्चात्य देशों में बड़ा तिरस्कार होने लगा है। आलोचक की

भली बुरी रुचि के अनुसार कवियों को श्रेणी में रखना, उनको नम्बर देना, ऊँचा तथा नीचा स्थान देना, अब सुसुचिपूर्ण बात नहीं समझी जाती है ।^१ अंग्रेज़ी-साहित्य में इस प्रकार की शैली के अनुसरण-कर्ताओं में विशेषतया उल्लेखनीय राइमर, एडिसन, जानसन, वालटियर इत्यादि हैं ।

निर्णयात्मक आलोचना का एक उदाहरण इस प्रकार है :—

“डा० रामकुमार वर्मा ‘विद्यापति शृंगारी कवि हैं या नहीं’ इस विषय पर अपना निर्णय देते हैं :—

“विद्यापति ने राधा कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है । ***सख्य भाव से जो उपासना की गई है, उसमें कृष्ण तो यौवनमत्त नायक*** हैं और राधा यौवन की मदिरा में***मुग्ध*** ।”^२

स्वतंत्र अथवा आत्मप्रधान (Free or Subjective)
आलोचना में आलोचक आलोच्य रचना से इतना विमुख अथवा इतना तल्लीन हो जाता है कि उसी के भाव-लहरी बह जाता है ।

इस प्रकार की आलोचना में रचना आलोचक के भावों का आलम्बन बन जाती है । आत्म-प्रधान आलोचना का साहित्यिक मूल्य भले ही हो, परन्तु वह अपने लक्ष्य की पूर्ति नहीं करती । इस प्रकार की आलोचना अधिकतर भावावेश के ही आवरण में परिवृत्त रहती है । इसमें विवेचन की मात्रा अल्प होती है, पर व्यक्तिगत भावों का बाहुल्य होता है । आलोचक रचना से अधिक अपने दृष्टिकोण को महत्व देता है ।

१—The ranking of writers in order of merit has become obsolete (The new criticism by J. E. Spingram 1917.)

२—आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ५१३ ।

इस प्रकार की आलोचना के निजी गुण और दोष होते हैं। गुण भी दोषों से कम नहीं हैं। यह आलोचना साहित्य के रिक्त कोष की पूर्ति करनेवाली है। प्रत्येक आलोचक के भावों की विभिन्नता तथा उसके दृष्टिकोण में कितना बृहद अन्तर होता है, यह इस प्रकार की आलोचना के देखने से प्रकट होता है। दोष यह है कि जिस लक्ष्य से आलोचना की जाती है, उसकी पूर्ति नहीं होती है। इस प्रकार की आलोचना से रचना का विषय इतना छिप जाता है कि उसका वास्तविक रूप नहीं दिखाई देता है।

हिन्दी साहित्य में आजकल इस प्रकार की रचना पर्याप्त मात्रा में हो रही है। इस प्रकार के आलोचकों में सबसे अधिक प्रसिद्ध श्रीसूर्य-कान्त शास्त्री, श्रीशान्तिप्रिय द्विवेदी इत्यादि हैं।

आत्म-प्रधान आलोचना का एक उदाहरण निम्नलिखित है :—

“भाषा और शैली की दृष्टि से ‘देव’ का स्थान ऊँचा है। छन्द की रचना में, विशेषणों की छाँट में, तुलाओं की खींच में, परेलू कहावतों की रवाज़ में, नायिकाओं के भाव-प्रदर्शन में, और विरह के स्वाभाविक वर्णन में देव अद्वितीय हैं। ताप और शैत्य के बीच में ‘हेम की लतिका’ फँस गई है, वह आन्तरिक प्रेमावेश से गुलम्ब सी फूल गई है और अपने सन्ताप को बुझाने के लिये ‘आँसुन के जल पूर’ में पैर रही है।”

आलोचना के चार प्रधान भेदों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। उनमें पारस्परिक सम्बन्ध और भी प्रदर्शित किये गये हैं। भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग में इन सभी प्रकार की आलोचनाओं से साहित्य की श्रीवृद्धि होती रही है। वर्तमान युग में साहित्य की बहुमुखी प्रतिभा के

दर्शन होते हैं। इस समय भी भाँति भाँति के आलोचक आलोचना की विभिन्न रीतियों द्वारा साहित्य के रिक्त भाण्डार की पूर्ति कर रहे हैं।

आलोचना के कुछ गौण भेद भी हैं, जिनका उल्लेख इस प्रकार हुआ है:—मनोवैज्ञानिक (Psychological), तुलनात्मक (Comparative), चारित्रिक (Ethical), आदर्शात्मक (Ideal), ऐतिहासिक (Historical), अध्ययनात्मक (Descriptive), आध्यात्मिक (Intuitive)।

मनोवैज्ञानिक आलोचना में मनोविज्ञान का प्राधान्य रहता है। रचना के अन्तर्गत रचयिता की अन्तर्वृत्तियों तथा अन्तःप्रकृति की खोज तथा छानबीन की जाती है। इस आलोचना में मानव या सांसारिक प्रकृति के तत्वों पर भी प्रकाश डाला जाता है, जिनसे प्रभावित होकर रचयिता ने रचना की है। वर्तमान युग एक मनोवैज्ञानिक युग है। सर्वत्र मनो-वैज्ञानिकता की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। साहित्य भी इसके प्रभाव से उन्मुक्त नहीं है। फलतः मनोवैज्ञानिक आलोचना की बाहुल्यता दिखाई देती है। भारतेन्दु-युग या उसके पूर्व इस प्रकार की आलोचना साहित्य में दुर्लभ है। यह आलोचना साहित्य के उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत करती है।

वर्तमान-काल में मनोवैज्ञानिक आलोचना की छाया प्रायः सभी आलोचकों पर प्रतिबिम्बित होती है। उनमें विशेष रूपेण आचार्य शुक्ल-जी, डा० रामविलास शर्मा तथा श्रीशान्तिप्रिय द्विवेदी उल्लेखनीय हैं।

तुलनात्मक आलोचना शैली के अनुसार आलोचना में आलोच्य रचना की तुलना अन्य रचनाओं से की जाती है। यह भी निर्णयात्मक शैली का एक मार्ग है। आधुनिक काल में हमारे आलोचकों को यह शैली अत्यन्त प्रिय प्रतीत होती है। द्विवेदी-युग में ही इसका सूत्रपात हो चुका था। इस प्रकार की आलोचक अपने प्रिय कवि की प्रशंसा और

महत्व को उसी प्रकार स्थापित करते हैं यथा एक वकील स्वपक्ष को निर्दोष, उचित तथा सच्चरित्र प्रमाणित करता है। इस आलोचना के द्वारा एक कवि अथवा लेखक को दूसरे से श्रेष्ठतर प्रमाणित करके उस पर विचार करते हैं।

आलोचना की इस शैली के द्वारा साहित्यसृजन तीव्रतम गति से हुआ है, और होता जा रहा है। साहित्य की वृद्धि के साथ ही साथ आलोच्य पर भी विस्तृत प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ 'देव-बिहारी' वादविवाद इसका प्रमाण है। कुछ समय तक 'देव-बिहारी' आलोचना साहित्य में जाग्रति उपस्थित किये रही। 'देव' को हिन्दी का प्रमुख कवि कहने पर पं० पद्मसिंह शर्मा तथा लाला भगवानदीन ने इसका विरोध 'बिहारी' की महत्ता प्रदर्शित करके किया। विवाद ने विराट रूप धारण कर लिया। श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने बड़ी युक्ति तथा तर्क के साथ देव की गुरुता का समर्थन किया। साथ ही मिश्रबन्धु ने भी 'देव' के उच्च पद को सुरक्षित रक्खा। इस वाद-विवाद तथा आलोचना के द्वारा साहित्य को इन दो महाकवियों पर पर्याप्त मात्रा में आलोचना-साहित्य मिल गया।

तुलनात्मक आलोचना लेखन में मिश्रबन्धु ने अंगुल्यानिर्देशन करके श्री कृष्णबिहारी मिश्र को प्रेरित किया। श्री कृष्णबिहारी मिश्र की 'मतिराम ग्रन्थावली' की भूमिका में भी इसके अच्छे उदाहरण हैं।

प्रायः ऐसा भी हुआ है कि दो कवियों की आलोचना न करके एक ही कवि में दो भिन्न-भिन्न साहित्यिकों में गुण और दोष प्रदर्शन में तुलनात्मक रीति का प्रयोग करना पड़ा। इस ज्वलन्त उदाहरण में 'कालिदास की निरंकुशता' है जिस पर द्विवेदीजी तथा श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी में पर्याप्त समय तक कालिदास की महत्ता स्थापित करने के हेतु वाद-विवाद होता रहा था।

तुलनात्मक आलोचना का प्रारम्भ हिन्दी में कब हुआ, यह ठीक

नहीं कहा जा सकता है, परन्तु भारतेन्दु काल में इस प्रकार की आलोचना अधिक नहीं मिलती । ‘सूर सूर तुलसी ससि’, ‘तुलसी गंग दुवै भये सुकविन के सरदार,’ इत्यादि कथन तुलनात्मक आलोचना की बढ़ती हुई पद्धति के द्योतक हैं । ‘उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्.....’ इत्यादि में इसी का बीज निहित है ।

तुलनात्मक आलोचना के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

“पन्त और महादेवी अब तक की खड़ी बोली की कविता के सार अंश हैं—सौंदर्य और वेदना ।.....पन्त की आत्मा अपनी व्यथा में मूक है, उसका वाह्य-क्रीडा-कलरव ‘मूक व्यथा का भुलाव’ है, किन्तु महादेवी उस ‘मूक व्यथा को ही वेदना की कल्याणी वाणी दे दी’ ।”

एक और उदाहरण देखिये:—

“बिहारी और देव दोनों ही शृंगारी कवि हैं । दोनों की शृंगार-रस पूरित रचनाएँ अद्भुत हैं ।...बिहारी ने केवल कविता की है परन्तु देव ने रीति-प्रदर्शक ग्रन्थों की भी रचना की है ।” १

चारित्रिक आलोचना में चारित्रिक तत्त्वों की विवेचना का प्राधान्य रहता है । आलोचक आलोच्य में चरित्रचित्रण देखकर उसमें प्रतिबिम्बित रचयिता के दृष्टिकोण की समीक्षा करता है ।

आदर्शात्मक आलोचना में आलोच्य रचना में आदर्श रचना के गुणों की खोज की जाती है । तद् अनुसार उसका मूल्य निर्धारित किया जाता है । यह आलोचना पद्धति निर्णयात्मक आलोचना से बहुत कुछ प्रभावित रहती है ।

इतिहासिक आलोचना के द्वारा आलोच्य रचनाओं में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि दशाओं तथा उनके द्वारा प्रतिबिम्बित

१—युग और साहित्य पृष्ठ ३२२ ।

२—देव-बिहारी पृष्ठ १०२ ।

प्रभाव देखा जाता है। साथ ही साथ साहित्य की ऐतिहासिक रचना परम्परा के साथ आलोच्य का तारतम्य मिलाया, तथा उनका स्थान निश्चित किया जाता है। डाथ रामकुमार वर्मा तथा डा० माताप्रसाद गुप्त की रचना में इसके उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

अध्ययनात्मक आलोचना के अनुसार आलोच्य के सभी सूक्ष्म अंगों पर विस्तार के साथ विचार किया जाता है। रचना के वास्तविक रूप को समझने का प्रयत्न इस आलोचना द्वारा किया जाता है। साथ ही आलोच्य के मार्मिक स्थलों पर प्रकाश डाला जाता है। इसे शिक्षण-शैली का एक अंग समझना चाहिये। इस प्रकार की आलोचना आचार्य मिश्रबन्धु के नवरत्न^१ तथा आचार्य शुक्लजी की आलोचना 'सूरदास'^२ में उपलब्ध होती है।

आध्यात्मिक आलोचना को मनोवैज्ञानिक रीति का ही रूप समझना चाहिये। इसके द्वारा आलोचक आलोच्य की उस मनोदशा का चित्रण करता है, जिससे प्रभावित होकर कवि या लेखक ने रचना की है।

आलोचना का क्रमिक विकास

गत परिच्छेद में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि मानव के जन्म का इतिहास ही आलोचना के आविर्भाव का इतिहास है। सत् तथा असत् का ज्ञान बालक को शीघ्र ही हो जाता है। शनैः-शनैः वही रुचि में परिवर्तित हो जाती है। सर्वप्रथम वह अपनी आवश्यकताओं में सद्, असद् की खोज करता है और फिर समय तथा अवस्था

१—ह्रन्दी नवरत्न पृष्ठ २६६-३११।

२—सूरदास पृष्ठ १६०, १६१, १६२।

के अनुसार उसे समाज, धर्म तथा साहित्य में भी गुण-दोष प्रदर्शित होने लगते हैं। आलोचना की शक्ति दैवी देन है, मानव द्वारा परिपालित, परिपोषित तथा परिवर्धित है। अतः स्पष्ट है कि आलोचना किसी न किसी रूप में साहित्य में सदैव होती रही है। मनुष्य ने वही 'अच्छी-बुरी' वाली कसौटी में साहित्य को भी कसा होगा। यह तो निश्चित है कि सुभाषित छन्दों और उत्कृष्ट काव्य को पढ़कर सहृदय मानव ने सदैव साधुवाद किया होगा; और अरुचिकर साहित्य पढ़ने के पश्चात् उसने होठ भी बिचकाये होंगे। क्या यह आलोचना का प्रारम्भिक स्वरूप नहीं है। कुछ समय के पश्चात् लेखनी ने मानव के मन और मुख के भावों को कोरे कागज़ पर व्यक्त कर दिया होगा।

नवजात शिशु आलोचना के विकसित रूप के दर्शन भाष्यों में उपलब्ध होते हैं। परन्तु वह अत्यन्त सीमित रूप है। न उसमें नवीनताओं पर प्रकाश डाला गया और न दोषों की ओर संकेत ही है। भाष्यों में केवल रचनागत मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख मिलता है। साथ ही लेखक के अभिप्राय के साथ पाठ के मुख्यार्थ पर प्रकाश डाला गया है। संक्षेप में भाष्यों में केवल मुख्य-मुख्य बातों का विवेचन तथा रचना के सम्बन्ध में अवान्तर प्राप्त अर्थों का संग्रहमात्र मिलता है।^१

भाष्यों के पश्चात् टीकाओं में आलोचना के क्रमिक विकास का अध्ययन अत्यन्त रोचक है। संस्कृत में टीकाओं की अधिकता रही। उन टीकाओं में आलोचना का स्वरूप निखरता हुआ प्रतीत होता है। टीकाओं में अर्थ के साथ मार्मिक स्थलों की व्याख्या भी की जाती थी। यत्र-तत्र उनमें काव्यगत विशेषताओं का भी उल्लेख मिलता है। संस्कृत के टीकाकारों में मल्लिनाथ सबसे गम्भीर टीकाकार हुए हैं।

उदाहरणार्थ एक टीका की भाषा इस प्रकार है :—“जलानीति । यूपः संस्कृतः पशुबन्धनाहो दारुविशेषः । तीर निखात यूपाया सरयूस्तरंग मेधा अश्व मेधास्तेष्ववभृथार्थ मेवावतीर्णैरवरूढैरिद्धिवाकुम्भिरिद्धिवाकु गोत्रात्पत्यनैः पूर्वैः पुण्यतरी कृतान्याति शयने पुण्य कृतानि जलान्ययोध्यां राजधानी अनुसमीपे । तथा लक्षितयेत्यर्थः । अनुशब्दस्य प्रापयति” ।^१

हिन्दी में आलोचनात्मक विचारों के उल्लेख का आरम्भ ‘भक्तमाल’ के समय से ही होता है । इस ग्रन्थ में भक्तों की जीवनी के साथ उनके काव्य के गुणों पर भी अच्छा प्रकाश पड़ा है । समय-समय पर भक्तमाल की कोटि के अन्य ग्रन्थों की रचना भी हुई पर उनमें आलोचना का भाव भक्ति के गुरु तथा पवित्र भावों के अन्तर्गत दब गया । फलतः वे भक्तों द्वारा विरचित काव्य की प्रशंसाएँ मात्र हैं । दोषों से युक्त होते हुए भी उसमें उनका उल्लेख नहीं है ।

रीतिकाल में रस तथा अलंकार परिपाटी का प्रयोग होता रहा । उस समय कुछ रचनाएँ ऐसी हुईं, जिनमें काव्यांगों के उदाहरण स्वतः न प्रस्तुत करके लक्ष्य ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं । यह भी आलोचना की पुरातन शैली है । यद्यपि इसमें किसी कवि के ग्रन्थों की विस्तृत आलोचना नहीं पाई जाती, तथापि उसके अन्तर में आलोचना के बीज का यापन दिखाई देता है । यही बीज भारतेन्दु-युग में एक तरुण पौदे के रूप का प्राप्त हुआ, जो भविष्य में पुष्पित और फलित हुआ ।

सामान्य रूप से हमारे साहित्य में यह दृढ़ भावना है कि भारतेन्दु-युग के प्रमुख कवि श्रीबदरीनारायण ‘प्रेमघन’ ही हिन्दी आलोचना के जन्मदाता थे । वाङ्मय-विमर्श^२ के लेखक श्रीविश्वनाथप्रसाद मिश्र तथा

१—टीका रघुवंश सर्ग १३ श्लोक ६१ ।

२—वाङ्मय विमर्श पृष्ठ १८७ ।

‘भारतेन्दु-युग’^१ के लेखक डा० रामविलास शर्मा के मतानुसार श्रीबालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी आलोचना का सूत्रपात किया, पर वास्तव में ये दोनों ही मत पूर्णरूपेण भ्रामक हैं। हिन्दी में नवीन ढंग की आलोचना-शैली को सूत्रपात करनेवाले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र थे। भारतेन्दु बाबू ने जिस प्रकार साहित्य के अन्य अंगों में अपने समकालीनों को मार्ग प्रदर्शित किया था, उसी प्रकार आलोचना के क्षेत्र में भी वे अग्रदूत रहे। उन्हीं के द्वारा निश्चित शैली का अनुसरण करके ‘प्रेमघन’ तथा भट्टजी अग्रसर हुए थे। भारतेन्दुजी साहित्य की जिस अद्वितीय रचना-त्मक शक्ति को लेकर उत्पन्न हुए थे; वही आलोचना-क्षेत्र में भी प्रकाशमान होती है। भारतेन्दुजी की आलोचना-शक्ति का द्योतक उनका व्यंग-साहित्य है। उनका व्यंग साहित्य तीव्र आलोचना से युक्त है।

भारतेन्दुजी ने आलोचना साहित्य में एक नवीन परिच्छेद उस समय खोला, जिस समय हमारे साहित्य में सत् आलोचना का अभाव था। ‘नाटक’ शीर्षक ६७ पृष्ठ के आलोचनात्मक लेख में नाटकों का इतिहास देते हुये हिन्दी नाटकों पर भारतेन्दुजी ने गम्भीर विचार प्रकट किये थे। यह निबन्ध हिन्दी का सर्व-प्रथम आलोचनात्मक निबन्ध था, जिसमें नवीन शैली को ग्रहण कर आलोचना का ठीक प्रतिपादन किया गया है। इतना गम्भीर विचारवान् आलोचनात्मक निबन्ध साहित्य में इसके पूर्व नहीं लिखा गया था।

भारतेन्दुजी ने अपने इस निबन्ध में, जिस शैली का आश्रय लिया था उसका एक उद्धरण उदाहरणार्थ यहाँ दिया जाता है:—“हिन्दी भाषा में वास्तविक नाटक के आकार में ग्रन्थ की सृष्टि हुये २५ वर्ष से विशेष नहीं हुये। यद्यपि नेवाज कवि का ‘शकुन्तला’ नाटक, वेदान्त विषयक भाषा ग्रन्थ समयसार नाटक, ब्रजवासीदास प्रभृति के प्रबोध

चन्द्रोदय नाटक के भाषाअनुवाद नाटक नाम से अभिहित है, किन्तु इन सबों की रचना काव्य की भाँति है अर्थात् नाटक रीत्यानुसार पात्र प्रवेश इत्यादि कुछ नहीं है। भाषा कविकुलमुकुट माणिक्यदेव कवि की 'देव-माया-प्रपंच' नाटक.....यद्यपि नाटक रीति से बने हैं, किन्तु नाटकीय यावत् नियमों का प्रतिपालन इनमें नहीं है और छन्द प्रधान ग्रन्थ है।^१

उपर्युक्त नाटकों की भाषा, नाट्यकला इत्यादि की आलोचना करके हिन्दी में अच्छे नाटकों का अभाव प्रदर्शित करना ही भारतेन्दु का लक्ष्य नहीं था; वरन् वह हिन्दी को हिन्दी के वास्तविक रूप में देखना चाहते थे। इसी कारण इस लेख में वे आगे लिखते हैं:—विशुद्ध नाटक रीति से पात्र प्रवेशादि नियम रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्यचरण श्रीकविवर गिरधरदास (वास्तव में नाम बाबू गोपालचन्द्र जी है) का है।^२

उल्लेखनीय अन्य नाटककारों के विषय में भारतेन्दुजी की आलोचना पठनीय है:—

“हिन्दी भाषा में दूसरा ग्रन्थ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मण-सिंह का शकुन्तला नाटक है। भाषा में माधुर्य आदि गुणों से यह नाटक उत्तम ग्रन्थों की गिनती में है। तीसरा नाटक हमारा 'विद्यासुन्दर' है।^३

हिन्दी नाटकों पर पारसी नाट्यकला का प्रभाव भारतेन्दुजी के हेतु असह्य हो गया था। वे हिन्दी पर अन्य भाषा का प्रभाव देखना ही नहीं चाहते थे। पारसी रीति पर अभिनित हिन्दी नाटकों की आलोचना भी पठनीय है:—

१—हरिश्चन्द्र कला नाटकावली प्रथम संस्करण पृष्ठ ६५।

२—हरिश्चन्द्र कला प्रथम भाग पृष्ठ ५४।

३—वही ५५।

“काशी में पारसी नाटकवालों में नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक मटककर नाचने और ‘पतरी कमर बल खाय’ यह गाने लगा तो डाक्टर थीबो और बाबू प्रमदादास यह कहकर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता । यह लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं ।”^१

हिन्दी में अन्य भाषाओं के अनूदित ग्रन्थों की आलोचना भी भारतेन्दुजी ने अत्यन्त तीव्र की थी ।^२

आलोच्य से उद्धरण और प्रमाण देकर आलोचना करने की रीति के सर्वप्रथम प्रवर्तक भारतेन्दुजी ही थे ‘प्रेमघन’ नहीं । ‘प्रेमघन’ से पर्याप्त समय पूर्व भारतेन्दुजी ने ‘रत्नावली’ की आलोचना इस प्रकार की थी:—“इस रत्नावली की दुर्दशा के दो-चार उदाहरण यहाँ दिखलाये जाते हैं । यथा तब यह प्रसंग हुआ कि यौगन्धरायण प्रसन्न होकर रंगभूमि में आया और बोला— ‘गान कर कहता है कि अए मदनिके’ अब कहिए यह रामकहानी है कि नाटक ?”^३

भारतेन्दु-युग के प्रायः सभी कवि तथा लेखक उच्च कोटि के व्यंग-कार थे । व्यंग इतने तीव्र होते थे कि उनमें प्रतिहिंसा की भावना झलकने लगती थी । भारतेन्दुजी की व्यंगात्मक आलोचना भी पठनीय है :—
“गवर्नमेंट की तो कृपादृष्टि चाहिए, योग्यायोग्य के विचार की आवश्यकता नहीं । फलाने साहब की डिक्शनरी के हेतु आधे लाख रुपये से व्यय किया गया तो यह कौन सी बड़ी बात है । ‘सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास’ । यह तो ‘भेंट भए जप साहि सों’ ‘भाग चाहियत भाल’

१—हरिश्चन्द्र कला प्रथम भाग पृष्ठ ५६ ।

२— “ ” ” ५७ ।

३—नाटकावली पृष्ठ ५७ ।

वाली बात है। किन्तु ऐसी दशा में अच्छे लोगों का परिश्रम व्यर्थ हो जाता है क्योंकि 'आँधरे साहिब की सरकार कहाँ लौं करै चतुराई चितेरे।'१

भारतेन्दुजी प्रतिभावान् महान् साहित्यिक थे। यही बात नहीं कि वे केवल हिन्दी के विद्वान् थे; इसी आलोचना के अन्तर्गत संस्कृत तथा अंग्रेज़ी के नाटकों की सुचारु रूप से विवेचना की थी।

बाबू श्रीनिवासदास का 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाटक उन्हीं के जीवनकाल में खेला जा चुका था। उसकी समालोचना भारतेन्दुजी ने बड़ी मार्मिक रीति से किया था।

भारतेन्दु-युग के कुशल आलोचकों में श्रीबालकृष्ण भट्ट भी उल्लेखनीय हैं। सं० १८४३ में 'हिन्दी-प्रदीप' पत्र में भट्टजी ने बड़ी विशद तथा तीव्र आलोचना 'संयोगिता-स्वयंवर' की लिखी थी। भट्टजी की आलोचना में व्यंग का प्रखर रंग रहता था। भारतेन्दुजी ने आलोचना का सूत्रपात किया था; परन्तु उसे सुचारु रूप से अग्रसर करने का श्रेय भट्टजी को है। भट्टजी के समय तक पत्र-पत्रिकाओं में 'प्राप्ति-स्वीकार' स्तम्भ आ चुका था। इस स्तम्भ का अस्तित्व आलोचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसी स्तम्भ में समालोचना के हेतु आई हुई पुस्तकों की आलोचना प्रकाशित होती थी। परन्तु 'प्राप्ति-स्वीकार' स्तम्भ में लिखित आलोचना अधिक विस्तृत तथा व्याख्यापूर्ण नहीं होती थी। वे अधिक से अधिक चार से छः पंक्तियों तक ही सीमित रहती थीं। बस, इतने में ही उनके गुण दोष का उल्लेख संक्षेप में हो जाता था। वास्तव में यह भट्टजी का दोष न था। संक्षिप्त आलोचना के भी अनेक कारण थे। यंत्रालयों का अभाव, अनुभवहीन सहायक सम्पादकों के कारण सम्पादक महान् गुरुतर कर्तव्य तथा सबसे बड़ा कारण यह था कि भारतेन्दु-युग साहित्य-निर्माण-काल था।

प्रत्येक मास 'हिन्दी-प्रदीप' कम से कम ३० नवीन पुस्तकें समालोचनार्थ आया करती थीं । इस दशा में उन सभी की विशद तथा विस्तृत आलोचना करना न केवल अरुचिकर वरन् दुस्तर कार्य था । फिर सम्पादक के हेतु प्रत्येक मास एक महान् उत्तरदायित्व था ।

'प्राप्ति-स्वीकार' स्तम्भ के साथ ही साथ 'हिन्दी-प्रदीप', 'नागरी-नीरद,' 'ब्राह्मण,' इत्यादि पत्रों में प्रायः 'समालोचना' शीर्षक में आलोचना उपलब्ध होती है । इसके अन्तर्गत केवल प्रमुख रचनाओं की आलोचना की जाती थी । इसका स्वरूप तथा आकार 'प्राप्ति-स्वीकार' से पूर्णतया भिन्न रहता था । 'समालोचना' में आलोचक भट्टजी प्रायः सात-सात छपे हुए पृष्ठों में अपने विचारों का प्रदर्शन करते थे ।

भट्टजी तथा भारतेन्दुजी के द्वारा निर्धारित शैली को 'प्रेमघन' जी ने अपनाया परन्तु उसमें विशिष्टताओं के साथ । अपनी ओर से आवश्यक गुणों का समावेश करके 'प्रेमघन'जी ने उसे नूतन स्वरूप प्रदान किया । 'प्रेमघन'जी ने आलोचना-शैली को अधिक स्पष्ट तथा वृहद् रूप दिया । 'प्रेमघन' की आलोचनाएँ प्रायः बड़ी विस्तृत हो जाती थीं । वे आलोच्य के प्रत्येक शब्द पर विचार प्रकट करते थे । गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की प्रथा तथा समालोच्य की वृहत् विवेचना-पद्धति 'प्रेमघन'जी ने ही चलाया था । गदाधरसिंह विरचित 'वंग-विजेता' के अनुवाद की आलोचना उन्होंने 'आनन्द कादम्बिनी' में पाँच पृष्ठों में लिखी थी । श्रीनिवासदास विरचित 'संयोगिता-स्वयम्बर' की अत्यन्त कठोर आलोचना 'प्रेमघन' ने अपनी 'कादम्बिनी' के २१ पृष्ठों में लिखी थी । उनकी आलोचना-शैली की तीव्रता और नवीन रूप को प्रदर्शित करने के हेतु कुछ उद्धरण दिये जाते हैं:—

“यद्यपि इस पुस्तक की समालोचना करने के पूर्व इसके समालोचकों की समालोचना करने की आवश्यकता जान पड़ती है, क्योंकि जब हम इस नाटक की समालोचना अपने बहुतेरे सहयोगी और मित्रों

को करते देखते हैं तो अपनी ओर से जहाँ तक खुशामद और चाप-लूसी का कोई दरजा पाते हैं, शेष छोड़ते नहीं दिखाते।”^१

‘प्रेमघन’ की एक आलोचना इस प्रकार है :—

“नाट्य रचना के बहुतेरे दोष ‘हिन्दी-प्रदीप’ ने अपनी ‘सच्ची समालोचना’ में दिखलाया है। अतएव उसमें हम विस्तार नहीं देते; हम केवल यहाँ अलग-अलग उन दोषों को दिखाना चाहते हैं जो प्रधान और विशेष हैं। तो जानना चाहिए कि यदि ‘संयोगिता-स्वयम्बर’ पर नाटक लिखा गया है तो इसमें कोई दृश्य स्वयम्बर का न रखना मानो इस कविता का नाश कर डालना है, क्योंकि यही इसमें वर्णनीय विषय है।”^२

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ‘प्रेमघनजी’ की आलोचना कितनी विस्तृत तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भूल की भी हुआ करती थी। छपे हुए २१-२२ पृष्ठों की आलोचना में वह कुछ भी न छोड़ते थे। पटपरिवर्तन, नाट्यकला, भाषा, पात्रों से लेकर व्याकरण की भूलों की भी आलोचना की गई है। ध्यान रखना चाहिए कि ‘प्रेमघन’ ने केवल उन्हीं दोषों की आलोचना २१ पृष्ठों में की है, जो उनकी दृष्टि में “प्रमुख और विशेष हैं।”

‘प्रेमघनजी’ की आलोचना में सबसे बड़ा दोष है, उसका अनावश्यक विस्तार। यही दोष उनके ‘भारत सौभाग्य’ नाटक में भी है। इस नाटक के यदि सभी पात्रों की गणना की जाय, तो १०० से ऊपर होंगे।

रचना की अत्यन्त सूक्ष्म बातों की व्याख्या करना, उनकी आलोचना की विशेषता है। अपने युग में वह सबसे अधिक विस्तार के

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—शुक्लजी पृष्ठ ५१७, ५१८।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास—शुक्लजी पृष्ठ ५१८।

साथ आलोचना लिखनेवालों में से थे। आलोचना की तीव्रता उनकी शैली का प्रमुख गुण था। 'प्रेमघन' ने सर्वप्रथम इस प्रकार की आलोचना लिखकर दूसरों के लिए एक उदाहरण उपस्थित कर दिया।

भारतेन्दु बाबू, भट्टजी तथा 'प्रेमघनजी' की आलोचना पद्धति पर प्रकाश डाला जा चुका है। उस युग के उत्कृष्ट विद्वान्, सफल व्यंगकार तथा प्रसिद्ध आलोचकों में प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्रीनिवासदास तथा अम्बिकादत्त व्यास शेष रहते हैं। भारतेन्दु-युग के प्रायः सभी लेखक श्रेष्ठ व्यंगकार थे। उनकी कविता, आलोचना तथा निबंध सभी में व्यंग का प्रयोग होता था। मिश्रजी, गुप्तजी इत्यादि ने किसी न किसी रूप में आलोचना की अवश्य परन्तु इनका आलोचना साहित्य अधिक विस्तृत तथा गंभीर नहीं है। इनकी आलोचनाएँ समाज, श के दोषों पर अधिक थीं; साहित्यगत अल्प मात्रा में।

पत्र-पत्रिकाओं ने उस समय आलोचना के लिए नवीन मार्ग खोल दिया था। पत्रों में प्रकाशित आलोचनाएँ केवल सम्पादकों की लिखी हुई न होती थीं, वरन् रुचि रखनेवाले सभी के लिए यह द्वार खुला था।

'सार-सुधा-निधि' पत्र (१ नवम्बर १८८०, पृष्ठ ३२४, ३२६) में 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाटक की बड़ी सुन्दर आलोचना प्रकाशित हुई थी, जिसके कुछ उदाहरण विचारार्थ यहाँ दिये जाते हैं :—

“नाटक क्या पदार्थ है ? इस विषय के समझाने में विशेष आयास का कुछ प्रयोजन नहीं है। क्योंकि हम ऐसा अनुमान करते हैं कि प्रायः यह सभी जानते हैं कि यह साहित्यशास्त्र का प्रधान अंग है दृश्य काव्य। साधारण काव्य तो केवल पुस्तक ही में देखने को मिलता है परन्तु दृश्य काव्य रंगभूमि में प्रत्यक्ष दिखाया जाता है।”

इस प्रकार आलोचना करके अन्य नाटकों से 'रणधीर और प्रेम-मोहिनी' की तुलना करते हुए लेखक अपनी लेखनी को किस प्रकार अग्रसर करता है। यह देखने का विषय है :—

“इस विषय में सर्वप्रथम संस्कृत नाटक रचयिता कविकुल तिलक कविवर कालिदास ने शकुन्तला नाटक रच के अपनी असामान्य योग्यता का परिचय दिया है। उनने शकुन्तला नाटक की रचना में तत्सामयिक रीति-नीति, आचार-व्यवहार, चाल-चलन और स्वभाव आदि प्रत्यक्ष होते हैं.....रणधीर और प्रेममोहिनी यह वियोगान्त नाटक है।.....प्रथम तो इस नाटक को वियोगान्त करने से साहित्य शास्त्र का पूरा शासन दिखाया गया है फिर इसके पश्चात् दुखान्त का महत्व है। यह नाटक प्रधानतः पाँच अंकों में समाप्त हुआ है।”^१

आलोचनात्मक निबन्ध का अन्तिम भाग भी विशेष रूप से पठनीय है। “फलतः.....यह वीर और करुण रस प्रधान नाटक है। हास्य तथा शृंगार का इसमें अंग है।”^२

‘सुधा सार निधि’^३ में ‘शेक्सपियर कवि की नाटक रचना’ शीर्षक के अन्तर्गत इस प्रकार आलोचना की गई थी :—“शेक्सपियर कवि केवल ग्रेट ब्रिटेन देश ही में नहीं वरन् योरप.....में अपनी कविता के लिए प्रसिद्ध है। नाटक ऐसी सुन्दर अपूर्व रीति से लिखे हुये हैं कि उनमें कवि ने मनुष्य के हृदय के भाव संकल्प, विकल्प, प्रीति, भय, आस, चिन्ता आदि का मानो साक्षात् चित्र ही खींच दिया है।”^४

जून २४, सन् १८८० के सारसुधानिधि के अंक में ‘विश्वविद्यालय

१—सारसुधानिधि १ नवम्बर १८८०, पृष्ठ ३२६।

२—‘वही’ “ ” “ ” “ ” ।

३—‘वही’ २८ जून “ ” २१२ ।

और हिन्दी भाषा' नामक लेख में विश्वविद्यालयों के हिन्दी के प्रति उपेक्षा-भाव की बड़ी आलोचना की गई थी।

'कविवचन सुधा' में भी नाटकों की आलोचनाएँ बड़े विचित्र ढंग से प्रकाशित हुआ करती थीं। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' की प्रशंसा में उसके सम्पादक ने लिखा था। "एक लोटा ही पास हो तो उसे बेचकर इस नाटक को खरीदो।"

भारतेन्दु-युग में नाटकों की आलोचना का कैसा स्वरूप था यह उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि वह युग आलोचना का जन्मकाल था, तथापि इतने अल्प समय में इतनी अधिक उन्नति हुई कि साहित्य के लिए गौरव की बात है। यद्यपि मात्रा में आलोचना उतनी नहीं हो सकी जितनी अभीप्सित थी परन्तु 'कोटि' सन्तोषप्रद है। इस समय उत्कृष्ट कोटि की आलोचनाएँ लिखी गईं, जिससे आलोचना का भविष्य उज्ज्वल हो गया।

भारतेन्दु-युग में नाटकों की आलोचना अधिकतर परिचयात्मक ही रही। नाटकों की आलोचना में मण्डनात्मक तथा खण्डनात्मक शैली का भी प्रयोग हुआ।

भारतेन्दु तथा उनके समकालीनों के द्वारा स्थापित आदर्श पर उनके पश्चात् साहित्य की सभी दिशाओं में सराहनीय उन्नति हुई। द्विवेदी-युग में उसका अधिक रुचिकर तथा जनता के हेतु उपयोगी बनाने का श्रेय आचार्य द्विवेदी, आचार्य शुक्लजी, डा० श्यामसुन्दरदास तथा मिश्रबन्धु को है। हिन्दी के इस द्वितीय उत्थान में नाटकों की रचना पहले से अल्प मात्रा में हुई। जो रचनात्मक कार्य हुआ भी, वह साहित्यिक-महत्व से युक्त नहीं है। यद्यपि राधेश्याम कथावाचक, तथा 'बेताब' इत्यादि ने दर्जनों नाटक लिख डाले पर उनकी साहित्य में आलोचना न हो सकी।

द्विवेदीजी ने नाटकों की जो आलोचनाएँ कीं उनसे दो बातें लक्षित होती हैं। प्रथम, वे अधिकतर ध्यान गुण-दोष-दर्शन की ओर ही रखते और दूसरे वे विशेष रूप से परिचयात्मक हैं। द्विवेदीजी की आलोचनाएँ मुख्यतः संस्कृत के कवियों पर ही हैं। यों तो, सम्पादक आसन पर बैठकर उन्हें हर प्रकार की आलोचनाएँ करनी पड़ी थीं परन्तु उनकी रचि का मुकाबल संस्कृत साहित्य की ओर अधिक था।

डा० श्यामसुन्दरदास की आलोचना मुख्यतः सैद्धान्तिक शैली पर हुई। उनके द्वारा लिखित नाटकों की आलोचना 'साहित्यालोचन' में भी उपलब्ध होती है, जो सैद्धान्तिक शैली के आधार पर हुई है। उनके द्वारा लिखित 'चन्द्रावली' नाटक की आलोचना से एक उद्धरण यहाँ दिया जाता है:—

“भारतेन्दुजी के ‘चन्द्रावली’ नाटिका भी उनके अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थों में से है। इसका संस्कृत तथा ब्रजभाषा में अनुवाद हुआ है। यह भारतेन्दुजी को थी भी बहुत प्रिय.....इसमें सन्देह नहीं कि इस नाटिका की भाषा बड़ी ही मधुर और परिमार्जित है। तथा इसमें उज्ज्वल प्रेम का बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि इस नाटिका में जिस प्रेम का चित्र अंकित किया गया है, वह भारतेन्दुजी के अपने भक्तिभाव का प्रतिबिम्ब है। वह उनके धार्मिक जीवन की प्रतिच्छाया है।”

मिश्रबन्धु ने भी ‘विनोद’ तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास में नाटकों की आलोचना की है, जो वास्तव में **मनोवैज्ञानिकता** के आधार पर लिखी गई है। इन आलोचनाओं में लेखकों ने यह प्रयत्न किया है कि न केवल नाटककार की भाषा और नाट्यकला की आलोचना की जाय, वरन् रचना का समय, रचना की कोटि, लक्ष्य,

तथा अन्य आवश्यक बातों की भी आलोचना की जाय। साथ ही साथ अन्य भाषाओं के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन भी आलोचकों का लक्ष्य है। उनकी आलोचना-शैली का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है:—

“भारतेन्दुजी के पूर्व पूर्ण नाटक उनके पिता गिरधरदासजी ने रचा, जिसे नहुष नाटक कहते हैं। उसका भी गद्य खड़ी बोली में न होकर ब्रजभाषा में है। भारतेन्दु.....ने सर्वांग सुन्दर खेलने योग्य उत्कृष्ट नाटक रचे। भारतेन्दु के पीछे अंग्रेज़ी, बँगला आदि के प्रभाव से चम्पू, भाण, प्रहसनादि कुछ अधिकता से लिखे जाने लगे।”^१

द्वितीय उत्थान के अन्त में और वर्तमान काल के प्रारम्भ में ‘प्रसादजी’ ने अपनी नाट्यकला का विशेष परिचय दिया। उनकी नाट्यकला से मुग्ध प्रशंसकों ने उन पर लेखों पर लेख तथा अनेक पुस्तकें रच डालीं, जिनमें उनके नाट्यप्रतिभा की विशेष आलोचना थी। इन आलोचकों में सबसे प्रथम श्राकृष्णानन्द गुप्त उल्लेखनीय हैं। गुप्तजी ने ‘प्रसादजी’ के ‘दो नाटक’ नामक पुस्तक की रचना की। इस पुस्तक द्वारा उन्होंने आलोचना की एक नवीन शैली का जन्म दिया, जो शीघ्र ही स्वयं आलोचना का विषय बन गई। समीक्षा का प्रारम्भ देखिए किस नवीन ढंग पर हुआ है:—

“हाँ, शीत से ठिठुरती हुई इस रात्रि में मेरी कल्पना के सूत्रधार ने आज मेरे लिये चन्द्रगुप्त मौर्य के अभिनय का प्रबन्ध किया है। दर्शकों में मैं अकेला ही हूँ.....मैं इस बात की परवा नहीं करूँगा कि नाटक के पात्र पाटलिपुत्र के रंगमहल में हैं, अथवा तक्षशिला के घने वनों में।”^२

१—मिश्रबन्धु—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ३२२।

२—गुप्तजी के दो नाटक पृष्ठ १।

‘सिंहरण’ के चरित्र-चित्रण की भी आलोचना गुप्तजी ने सुन्दर तथा आकर्षक ढंग पर की है।

इस प्रकार पूरे नाटक का यह एक प्रकार से आलोचनात्मक अध्ययन कहा जा सकता है। प्रस्तुत आलोचना विशेषतः आत्म प्रधान है। इसमें लेखक के अपने भावों का जितना प्रदर्शन हुआ है उतना आलोच्य वस्तु का नहीं।

धीरे-धीरे ‘प्रसादजी’ के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन प्रारम्भ हुआ। फलतः सैद्धान्तिक शैली के आधार पर ‘प्रसादजी’ के नाटकों की आलोचना हुई। डा० जगन्नाथ शर्मा ने ‘प्रसादजी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन’ नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ में वैज्ञानिक रीति से नाटकों का अध्ययन प्रस्तुत किया।

नाटकों के आलोचना-क्षेत्र में श्री ब्रजरत्नदास विरचित, ‘हिन्दी-नाट्य-साहित्य’ का प्रकाशन नाट्य-साहित्य की आलोचना में एक ऐतिहासिक घटना है। इस पुस्तक में हिन्दी के प्रायः सभी नाटककारों की शैलियों की आलोचना सविस्तार की गई है। इस ग्रंथ में लेखक विद्यार्थी की भाँति सभी नाटककारों की रचना पढ़कर उनके गुण-दोषों की ओर संकेत कर देता है, साथ ही साथ यत्र-तत्र नाटककारों का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। प्रस्तुत पुस्तक में परिचयात्मक शैली ग्रहण की गई है।

डा० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक ‘भारतेन्दु-युग’ में उस समय के प्रायः सभी मुख्य-मुख्य नाटककारों की आलोचना की है। डा० शर्मा द्वारा लिखित आलोचना सीधे-सादे शब्दों में गुण और दोषों का निरूपण है। परन्तु दोषों की ओर संकेत करते समय लेखक की आलोचना अत्यन्त तीव्र हो जाती है। उदाहरणार्थ ‘प्रेम जोगिनी नाटक अधूरा है। इसका नाम ‘प्रेम-जोगिनी’ क्यों रखवा गया यह स्पष्ट नहीं है। जितने अंक लिखे गये हैं, उनमें न तो प्रेम है,

न जोगिनी । इन अंकों की कथा बिखरी-बिखरी है परन्तु चित्रण एक-दम यथार्थवादी ।”^१

काव्य की आलोचना

काव्य की आलोचना का स्वरूप हम भाष्य, अन्तर्भाष्य तथा टीकाओं में देख चुके हैं । अर्थ के साथ कवि के मनोगत भावों तथा विशेष बातों का उल्लेख ही टीकाओं तथा भाष्यों में आलोचना का प्राथमिक दर्शन है । इसके पश्चात् हिन्दी काव्य की आलोचना में एक नवीन परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ । हिन्दी काव्य की आलोचना संक्षिप्त तथा काव्य के रूप में होने लगी । ‘सूर सूर.....प्रकाश’ इत्यादि कथनों में आलोचना का बीज दृष्टिगोचर होता है ।

हिन्दी में काव्य के आलोचनात्मक भावों की अभिव्यंजना ‘भक्त-माल’ के समय से प्रारम्भ हुई । परन्तु ‘भक्तमाल’ में भी भक्तों के निर्मल हृदय से निःसृत मधुर वाणी की प्रशंसामात्र है । ‘२५२ वैष्णवन की वार्ता’ भी गद्य में भक्तमाल का ही स्वरूप समझी जाती है ।

समाचारपत्रों के प्रकाशन, अंग्रेज़ी राज्य की संस्थापना, राज-नीतिक तथा धार्मिक आन्दोलनों के जन्म, तथा ‘रोड प्रीचिंग’ के कारण हिन्दी गद्य की उन्नति हुई । भारतेन्दु-युग में नाट्य-साहित्य के साथ ही काव्य - साहित्य की अच्छी रचना हुई । कविता, नाटक तथा व्यंग, उस समय की साहित्यिक आवश्यकता ही नहीं थी वरन् राजनैतिक विशृंखलताओं को भी दूर करने के साधन थे । भारतेन्दु युग के लेखक नाटकों की

और जितना आकृष्ट रहे उतना काव्य की ओर नहीं। इसी कारण जितनी आलोचना नाट्य-साहित्य की हुई, उतनी न तो काव्य की हुई और न साहित्य के किसी अन्य अंग की। फिर भी काव्य की उपेक्षा पूर्ण रूप से नहीं हुई थी।

भारतेन्दु-युग में काव्य की आलोचना का स्वरूप नाटकों की आलोचना से कुछ भिन्न रहा। काव्य को इतनी विस्तृत और गम्भीर आलोचनाएँ नहीं उपलब्ध [होतीं] जितनी नाटकों की। समालोचनार्थ आई हुई काव्य की पुस्तकों की आलोचना 'प्राप्ति-स्वीकार' स्तम्भ में हो जाया करती थी। 'सम्पादकीय' में भी प्रायः काव्य-ग्रन्थों की आलोचना की जाती थी। परन्तु 'सम्पादकीय' में उन्हीं पुस्तकों की आलोचना होती थी, जो भारतेन्दुजी जैसे उत्कृष्ट कलाकारों की रचनाएँ होती थीं। उस युग के पत्रों में काव्य की आलोचना प्रायः 'सूचना' शीर्षक में भी छपती थी। इसके लेखक या तो पत्र के संचालक होते थे या कोई सामान्य विद्वान्। प्रायः 'नवीन पुस्तकें' स्तम्भ में भी काव्य पुस्तकों की आलोचना की जाती थी। परन्तु 'भारतेन्दु मैगज़ीन' में इन सबके हेतु कोई स्थान नहीं था। काव्य की आलोचना केवल उपर्युक्त शीर्षकों में ही नहीं वरन् अन्य प्रकार से भी होती थी।

'मनोज मंजरी' नामक पुस्तक की आलोचना 'भारत जीवन' पत्र में इस प्रकार हुई थी:—

“विदित हो कि 'मनोज मंजरी' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के अब तीनों भाग छप कर तैयार हुए हैं। आहा हा ! क्या कहें जो न लेगा, सो पछतायगा। इसकी कविता देखकर तो यही जी चाहता है कि पास में दाम न हों तो कहीं से उधार ही सुधार लेकर ग्रन्थ देख लें, कौन ठिकाना कहीं बिक ही न जाय।”^१

भारत जीवन में गोपीनाथ भट्ट द्वारा लिखित शब्दप्रकाश की आलोचना पठनीय है:—“शब्दप्रकाश नामक एक अत्युत्तम ग्रन्थ ज्ञान वैराग्य और शृंगार रसों में अभी छपकर प्रस्तुत हुआ है। इसकी मनोहरता और लालित्य का अनुभव पढ़ने से ही हो सकता है। यह प्राचीन कवि धरनीदासजीकृत दोहा चौपाई इत्यादि में है। यह देखने से ही बनेगा हम क्या लिखें वरन् यह ग्रन्थ अपने ढंग का एक ही है।”^१

भारत जीवन प्रेस के मैनेजर द्वारा की गई आलोचना का एक उदाहरण इस प्रकार है:—“हमारे कई एक ग्राहकों ने बार बार रस लहरी के दूसरे भाग के लिये हमको लिखा था सो हमने भी अब उसे कवि चिन्तामणिजी से प्रार्थना करके तैयार करवाया है। इसमें ऐसे रसीले पद हैं कि क्या कहना है। होरी, घुमरी, टप्पा, लावनी इत्यादि की बरसात है। ऐसी पुस्तकें हेतु चार आने बहुत ही थोड़े हैं।”^२

ऊपर दिये हुये उदाहरणों से ज्ञात होता है कि काव्य की आलोचना उस उत्कृष्ट कोटि की नहीं हो पाई, जिस कोटि की नाटकों की हुई। काव्य की आलोचना परिचयात्मक रीति से ही हुई थी। उपर्युक्त आलोचनाओं में लेखक ने आलोच्य के गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है, जैसे विज्ञापन करनेवाला गुणों का गायन करता है।

‘समालोचना’ शीर्षक के अन्तर्गत ‘रस-प्रकाश नायिका भेद’ नामक ग्रन्थ की आलोचना शैली भी पठनीय है:—

“हम इस पुस्तक की सहर्ष प्राप्ति स्वीकार करते हैं और इतना ही कहते हैं कि यों तो अनेक नायिका-भेद उत्तमोत्तम छपे हैं परन्तु वे

१—‘भारत जीवन’ अंक ४, भाग २, १४ मार्च १८८७।

२— वही “ ” पृष्ठ ७।

केवल विद्वानों के ही समझने के योग्य हैं। और यह छोटा सा ग्रन्थ यदि काव्य के विशेष अलंकारों से सम्पन्न तो नहीं है किन्तु सर्व साधारण के समझ में आने योग्य है।”^१

इसी प्रकार ‘भारत जीवन’ मार्च १५, १८८६ में ‘समालोचना’ स्तम्भ के अन्तर्गत सम्पादक ने ‘सुन्दरी सर्वस्व’ की आलोचना इस प्रकार की थी:—“...इसे ओद्योपान्त देखने से निःसन्देह यही कहना पड़ता है कि हमारी मातृभाषा हिन्दी कविता का यह प्रथम श्रेणी का ग्रन्थ है और इसके देखने से यह भी निश्चय हुआ है कि पहिले जमाने में जो महाराज लोग कविता पर रीझकर लाखों पुरस्कार देते थे सो इसी भाँति की कविता पर।”^२

‘हिन्दी प्रदीप’ पत्र की आलोचनात्मक शैली अधिक स्पष्ट थी:—“ये कवि सार्वभौम-कविराज.....के शिष्य हैं। इनकी कविता बड़ी सरस और सालंकार है।...यह प्रसिद्ध है कि “दंडिनः पद लालित्यं पर.....की पदावली का लालित्य किसी कवि से कम नहीं है। किसी किसी इसके श्लोक को अच्छे पण्डितों को भी सावधान होकर लगाना पड़ता है।”^३

पं० श्रीधर पाठक के ‘मनोविनोद’ की आलोचना भी विकास की दृष्टि से पठनीय है:—“पं० श्रीधर पाठक का संग्रह का यह दूसरा खण्ड है। इस पुस्तक को पढ़कर यही जी चाहता है कि पं० श्रीधर को हिन्दी साहित्य के टेनिसन कहें तो अत्युक्ति न होगी।”^४

भारतेन्दु-युग की काव्य आलोचना देखने पर एक बात का ध्यान

१—‘भारत जीवन’ अंक ४, भाग २, पृष्ठ ३ २३ मई १८८७।

२—‘भारत जीवन’—१४ मार्च १८८७ पृष्ठ ३।

३—हिन्दी प्रदीप—जनवरी १९०७ पृष्ठ २४।

४— “ ” “ ” १९००।

आता है कि आलोचना मुख्यतः 'प्राप्ति-स्वीकार' प्रकाश के साथ दो एक गुण दोष के उल्लेख मात्र तक सीमित थी। इसके सिवाय आलोचना में न तो कोई विशेषता प्रदर्शित की जाती थी और न किसी प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन ही होता था। आलोचना का स्वरूप अत्यन्त संचिप्त देखकर ही कहा जा सकता है कि उस युग के लेखक काव्य की आलोचना की ओर अधिक आकर्षित नहीं थे। उनकी प्रतिभा नाट्य-कला तथा रंग मंच की ओर उन्मुख रही।

किसी लेखक अथवा कवि की मृत्यु का शोक-समाचार देते समय भी उस युग के सम्पादक रचनाओं पर प्रकाश डालते थे। इस प्रकार की आलोचना दूसरे शब्दों में प्रशंसामात्र होती थी। परन्तु आलोचना के विकास में इसका भी सहयोग रहा। यहाँ इस प्रकार की समीक्षा के दो एक उदाहरण दिये जाते हैं:—“हम अत्यन्त खेद के साथ प्रकाश करते हैं कि काशी के प्रसिद्ध विद्वान.....का देहान्त कल प्रातःकाल हो गया। ये महाशय संस्कृत विद्या में अत्यन्त प्रवीण थे और इन्होंने कई ग्रन्थ भाषा और संस्कृत में बनाये थे। इनके रचे हुये 'शिल्प-चमत्कार-चिन्तामणि' के दोनों भाग तथा 'प्रतिबिम्ब-चिन्तामणि' देखने के योग्य हैं।”^१

सम्पादक के कर्तव्य की पूर्ति के अन्यथा भारतेन्दु-युग के आलोचक काव्य के सूक्ष्म विवेचन की ओर नहीं आकृष्ट हुए। काव्य को उन्होंने व्यंग की अभिव्यक्ति का एक साधन भी बना लिया था। काव्य की आलोचना अल्प मात्रा में हुई। वह भी बिल्कुल साधारण सी, न तो उसमें आलोच्य के उदाहरण देकर भावपूर्ण स्थलों की ओर संकेत होता था, न भाषा और रचना की शैली पर विचार किया जाता था।

भारतेन्दु युग के पश्चात् द्वितीय-उत्थान में हिन्दी काव्य की आलोचना का स्वरूप अधिक सुष्ठु तथा परिष्कृत हो गया । इस समय साहित्य-सृजन और विवेचन—दोनों कार्य गम्भीर रूप में हुये । भारतेन्दु बाबू और उनके साहित्यिक साथियों ने जिस बीज का यापन किया था वह द्वितीय उत्थान में पल्लवित हो चुका था । इस थोड़े से समय में साहित्यिकों की संख्या आशा से अधिक बढ़ गई और उन्होंने साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्ति द्रुत गति से की । इस समय तक पत्र-साहित्य भी उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर हो गया था । उन्नति केवल ग्राहकों के बृद्धि में ही नहीं वरन् भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी हुई जिससे पाठकों की रुचि में परिष्कार हुआ ।

काव्य की आलोचना के इतिहास में 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है । उसने स्वयं साहित्य-निर्माण में जो कार्य किया उससे भी अधिक प्रशंसनीय उसके पाठकों का कार्य रहा है । सम्पादन-काल में द्विवेदीजी ने भी काव्य आलोचनाएँ लिखीं वह आलोचना साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय है । द्विवेदीजी ने हिन्दी की एक महान् आवश्यकता और अभाव की पूर्ति की । '... .. किसी ग्रन्थकार के गुण अथवा दोष दिखाने के लिए स्वतंत्र रूप से कोई पुस्तक भारतेन्दुजी के समय में न निकल सकी थी । इस प्रकार की पहली पुस्तक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' थी, जो इस द्वितीय उत्थान के आरम्भ में प्रकाशित हुई । इसमें लाला सीताराम बी० ए० के अनुवाद किए हुए नाटकों के भाषा तथा भाव सम्बन्धी दोष बड़े विस्तार के साथ दिखाये गये थे । यह अनुवाद की आलोचना थी अतः भाषा की त्रुटियाँ और मूल भाव के विपर्यय आदि के आगे जा ही नहीं सकती थी । दूसरी बात यह है कि इसमें दोषों का ही उल्लेख हो सका गुणों का नहीं । इसके पश्चात् द्विवेदीजी ने कुछ संस्कृत कवियों को लेकर विशेषता-परिचायक

समीक्षाएँ लिखीं। इस प्रकार की पुस्तकों में 'त्रिक्रमांकदेव' तथा 'नैषधचरित' चर्चा मुख्य है। इनमें कुछ पंडित-मण्डली में प्रचलित रुढ़ि के अनुसार चुने हुये श्लोकों की खूबियों पर साधुवाद था (जैसे क्या उत्तम उत्प्रेक्षा है।) और कुछ भिन्न-भिन्न विद्वानों के मतों का संग्रह।... द्विवेदीजी की तीसरी पुस्तक "कालिदास की निरंकुशता" में भाषा और व्याकरण के वे व्यतिक्रम इकट्ठे किये गये जिन्हें संस्कृत के विद्वान् लोग कालिदास की कविता में बताया करते हैं।... जो हो, इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्लेवालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिये, स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं। यद्यपि द्विवेदीजी ने हिन्दी के बड़े कवियों को लेकर गम्भीर साहित्य-समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया।

द्वितीय उत्थान में साहित्यिक सुसमालोचना के नवोदय में हिन्दी के विद्वान् मिश्रबन्धु का भी सहयोग रहा। मिश्रबन्धु ने काव्य आलोचना साहित्य में एक नवीन शैली को जन्म दिया। उन्होंने केवल दोषान्वेषणी शैली को ही नहीं अपनाया वरन् व्याख्यात्मक तथा निर्णयात्मक आलोचना-शैली को ग्रहण किया। काव्य की आलोचना को वैज्ञानिक तथा नियमित स्वरूप प्रदान करने का मिश्रबन्धु को भी श्रेय है। उनकी काव्य आलोचना में नवीनता तथा मौलिकता प्रशंसनीय है।

मिश्रबन्धु ने विद्वानों को अध्ययन और मनन करने योग्य विचार प्रदान आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी आलोचना का प्रधान गुण है तर्क तथा गम्भीर व्याख्या। प्राचीन परिपाटियों को समय और परिस्थिति के अनुकूल बनाकर उसे नवीन जीवन प्रदान किया। अपनी न्याय तथा तर्कप्रियता से आपने प्राचीन और नवीन कवियों की

मुसलमान कवियों की हिन्दी सेवा पर गम्भीर आलोचना लिखी। यह हमारे साहित्य का प्रथम निबन्ध था जिसमें मुसलमान कवियों का मूल्य आँका गया हो।

‘हिन्दी नवरत्न’ मिश्रबन्धु का प्रशंसनीय आलोचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें हिन्दी के नौ कवियों की विशद तथा मार्मिक आलोचना की गई है। इसके पूर्व कवियों की इतनी गूढ़ तथा तर्क प्रधान आलोचना हमारे साहित्य में कभी नहीं हुई थी। शीघ्र ही ‘हिन्दी-नवरत्न’ इतना लोक-प्रिय ग्रन्थ बन गया कि थोड़े ही समय में प्रायः छः संस्करण हाथों-हाथ समाप्त हो गये। ‘हिन्दी-नवरत्न’ में निर्णयात्मक आलोचना शैली का अनुसरण किया गया है। परन्तु कहीं-कहीं तुलनात्मक शैली का भी प्रयोग किया गया है।

मिश्रबन्धु ने रचनाओं की मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचनाएँ की हैं। इसी ‘नवरत्न’ में उन्होंने महाकवि ‘देव’ को तुलसी और सूर के बाद स्थान दिया। अपने इस कथन के लिये उन्होंने पुष्ट प्रमाण भी दिये पर इस बात का बड़ा विरोधी किया गया।

यहाँ पर पं० पद्मसिंह शर्मा और लाला भगवानदास का उल्लेख असंगत न होगा। शर्माजी तथा लालाजी ने ‘देव’ को ‘बिहारी’ से श्रेष्ठ मानकर मिश्रबन्धु की आलोचना की प्रत्यालोचना लिखी। शर्माजी तथा लालाजी ने तुलनात्मक आलोचना शैली का आश्रय ग्रहण किया। उनकी आलोचना में ‘वाह! वाह!’ का इतना प्रयोग हुआ है कि कहीं-कहीं पर उर्दू मुशायरे का सा मज़ा आने लगता है। मृतप्राय आलोचना शैली का शर्माजी ने पुनः उद्धार किया। शर्माजी की शैली में हास्य तथा व्यंग का अतिशय प्रयोग रहता था।

मिश्रबन्धु का सबसे महत्वपूर्ण कार्य ‘मिश्रबन्धु विनोद’ है।

इसमें उन्होंने सहस्रों नवीन कवियों की खोज करके उनके काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। 'मिश्रबन्धु-विनोद' खोज की दृष्टि से अमूल्य ग्रन्थ है और हिन्दी का गौरव बढ़ानेवाला है।

मिश्रबन्धु ने संस्कृत के आचार्यों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों के आधार पर आलोचना लिखी।

'देव-बिहारी' वाद-विवाद में प्रमुख भाग लेनेवाले विद्वानों में पं० कृष्णबिहारी मिश्र का उल्लेख आवश्यक है। मिश्रजी ने 'देव-बिहारी' पुस्तक में बड़ी युक्ति और तर्क के साथ यह प्रमाणित किया कि 'देव', बिहारी से उत्कृष्ट कवि हैं। मिश्रजी ने अत्यन्त शिष्टता तथा औचित्य के साथ दोनों कवियों की तुलना की। उनकी विद्वत्ता और गम्भीर आलोचना शैली की परिचायक 'मतिराम-ग्रन्थावली' की भूमिका है।

'देव बिहारी' वाद-विवाद के कारण काव्य की आलोचना की ओर लेखक अधिक आकृष्ट हुए। शीघ्र ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सत् समालोचना को अधिक परिष्कृत तथा सुष्ठु बनाकर सराहनीय कार्य किया। शुक्लजी ने आलोचना को काव्य की विशेषताओं तक ही नहीं सीमित रक्खा वरन् कवि की विचारधारा का उद्घाटन करके पाठकों के समक्ष उसकी अन्तर्वृत्तियों का दिग्दर्शन करानेवाली नई प्रथा चलाई। शुक्लजी की आलोचनाएँ अपनी नवीनता लिए होने पर भी स्पष्ट, मननपूर्ण, मार्मिक तथा अध्ययन का गाम्भीर्य लिये हुए हैं। शुक्लजी की आलोचना में मनो-वैज्ञानिकता का ठोस आधार है।

साहित्य में सूर, तुलसी और जायसी की इतनी विशद तथा विस्तृत आलोचना आचार्य शुक्लजी के पूर्व अन्य आलोचकों ने नहीं की थी। ऐसा जान पड़ता है कि शुक्लजी इतनी मार्मिक तथा गम्भीर आलोचना लिखने की शक्ति जन्म से ही लेकर उत्पन्न हुये थे। शुक्लजी की

आलोचनाएँ सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों पर होने के कारण बड़ी विस्तृत होती थीं ।

शुक्लजी आलोचक के कर्तव्य को 'कु, सु' तक ही निहित करना नहीं जानते थे । आलोच्य के 'कु-सु' का निर्देशन बहुत हल्की बात है । शुक्लजी आलोच्य की पूर्ण विवेचना गम्भीर अध्ययन के पश्चात् करते थे । तीव्र बुद्धि के कारण वे काव्य-गत सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव पर समान रूप से प्रकाश डालते थे । यहाँ तक कि मानवेतर जीवों के मनोविकार उनकी दृष्टि से नहीं बच सके । उदाहरणार्थः—

“दुम चढ़ि काहे न टेरत, कान्हो, गैयाँ दूरि गई । धाई जाति सबन के आगे जे वृषभान दई । ” ‘जे वृषभान दई’ कह कर सूर ने पशु प्रकृति का अच्छा परिचय दिया है । नये खँटे पर आई हुई गाएँ बहुत दिनों तक चंचल रहती हैं और भागने का उद्योग करती हैं । इसी से वृषभानु की दी गाएँ चरते समय भी भाग खड़ी होती हैं और दूसरी गाएँ भी स्वभावानुसार उनके पीछे दौड़ पड़ती हैं ।”

हिन्दी के द्वितीय उत्थान में डा० श्यामसुन्दरदास तथा पदुमलाल पन्नालाल बरुशो भी उल्लेखनीय हैं । इन्होंने आलोचना-साहित्य की उन्नति में बड़ा सहयोग दिया परन्तु काव्य की विशेष आलोचना नहीं लिखी । डा० श्यामसुन्दरदास तो सैद्धान्तिक आलोचना के प्रवर्तकों में हैं ।

द्वितीय उत्थान में पत्र साहित्य की वृद्धि के साथ काव्य की आलोचना में भी उन्नति हुई । सरस्वती के प्रकाशन काल के आरम्भ में जनता में साहित्यिक जाग्रति नहीं थी, परन्तु द्वितीय उत्थान के मध्य काल तक साहित्यिकों और कवियों की संख्या में बड़ी वृद्धि हुई । फलतः काव्य के प्रशंसकों की संख्या भी बढ़ गई । द्वितीय उत्थान के आरम्भकाल में मिश्रबन्धु के ‘हम्मीर हठ’, ‘पं० श्रीधर पाठक की कविता’ तथा ‘हिन्दी काव्य’ की आलोचनाएँ प्रकाशित हुईं । मिश्रबन्धु के अन्य समका-

लैन इसी ओर आकर्षित हुये, और काव्य की आलोचना प्रारम्भ हुई। पत्रों में 'काव्य की आलोचनाएँ', 'लेख', 'सूक्ष्म टिप्पणियाँ', 'पुस्तक परिचय' तथा 'वादविवाद' के रूप में होती रही। सम्पादकीय टिप्पणियों का भी कुछ कम महत्व नहीं है। इन पत्रों के कारण काव्य की आलोचना में पर्याप्त उन्नति हुई और काव्य का परिष्कार भी हो गया।

हिन्दी के द्वितीय उत्थान में सत् समालोचना के लिये अधिक स्थान नहीं रहा। अपने प्रिय कवि का पक्षपात और उसे महत्वपूर्ण स्थान देने की दलादली में आलोचना की उच्च कला फँसी रही। नहीं तो सम्भव था कि साहित्य की अधिक उन्नति हुई होती। "तात्पर्य यह है कि इस समय यद्यपि सत्समालोचना का पूर्ण अभाव नहीं था, तथापि यथेष्ट उन्नति नहीं हो सकी।"

हिन्दी के तृतीय उत्थान में हिन्दी काव्य की आलोचना का अधिक प्रकाशमान समय आता है। इस समय साहित्यिक जाग्रति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हुई। इस समय कवियों तथा आलोचकों की आशातीत वृद्धि हुई। "इन बीस-इक्कीस वर्षों के बीच हिन्दी साहित्य का मैदान काम करनेवालों से पूरा पूरा भर गया, जिससे उसके कई अंगों की अच्छी पूर्ति हुई। पर साथ ही बहुत सी फालतू चीजें भी इधर-उधर बिखरीं।"

तृतीय उत्थान में काव्य के आलोचकों में गण्यमान आलोचक डा० पीताम्बरदत्त बड़थवाल, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० दोन-दयालु गुप्त, डा० रामकुमार वर्मा, डा० केसरीनारायण शुक्ल, डा० रामाबिलास शर्मा, श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीनन्ददुलारे बाजपेई, श्रीगुनाबराय, श्रीशान्तिप्रिय द्विवेदी, श्रीचन्द्रशेखरी पाण्डेय तथा अन्य आलोचक हुए।

डा० पीताम्बरदत्त बड़धवाल ने निर्गुण धारा के कवियों का गम्भीर अध्ययन करके एक विद्वत्तापूर्ण प्रबन्ध लिखा, जिस पर उन्हें डी० लिट० की उपाधि मिली। हिन्दी के अज्ञात कवि गोरखनाथ इत्यादि को प्रकाश में लाकर आलोचनात्मक रीति से साहित्य में समावेश करने का श्रेय डाक्टर साहब को है। कबीर तथा जायसी के काव्य की कुशाग्र बुद्धि से जो आलोचना डाक्टर बड़धवाल ने की वह अद्वितीय निर्वर्णित की गई। (‘निर्गुणधारा’ नामक पुस्तक का हिन्दी में कुछ अनुवाद हुआ है।)

डा० दीनदयालु गुप्त ने नन्ददास तथा अष्टछाप के कवियों की सूक्ष्म आलोचना की। पुस्तक केवल काव्य की आलोचनामात्र से ही नहीं भरी गई वरन् वह नवीन खोजों से भी युक्त है। इसमें निर्यातात्मक, ऐतिहासिक तथा अध्ययनात्मक शैली के आधार पर आलोचना की गई है। ग्रन्थ अपनी खोजों के कारण और भी महत्वपूर्ण है। डा० गुप्त ने समय समय पर नन्ददास पर जो खोजपूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध लिखे वह भी विशेषतः उल्लेखनीय हैं। (यह ग्रन्थ इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में देखा गया है।)

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपनी प्रतिभा को अधिकतर भाषा विज्ञान में नियोजित किया लेकिन फिर भी काव्य की आलोचना से वे अछूते नहीं रहे।

डा० रामकुमार वर्मा की कबीर विषयक आलोचनाएँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। डा० बड़धवाल तथा आचार्य शुक्ल के पश्चात् कबीर के आप सूक्ष्म पर्यालोचक हैं।

‘आधुनिक काव्य-धारा’ के लेखक डा० केसरीनारायण शुक्ल भी आलोचना साहित्य के प्रमुख व्यक्तियों में हैं। आधुनिक काव्य की इतनी गम्भीर आलोचना इसके पहले नहीं हुई थी। डा० शुक्ल ने

निर्णयात्मक शैली का अनुसरण किया परन्तु कहीं-कहीं भावुकता के कारण पक्षपात के दलदल में फँस गये हैं।

‘भारतेन्दु-युग’ के लेखक डा० रामविलास शर्मा की आलोचना साहित्य में तीव्र गति है। शर्माजी ने ‘गुण-दोष’ दिखाने में ही अपनी प्रतिभा का अन्त नहीं कर दिया वरन् उसमें उस समय के लेखकों और कवियों की परिस्थितियों, भावों तथा विचारों की भी आलोचना की। इस आलोचना के रचने में शर्माजी ने निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक तथा मनोवैज्ञानिक शैली का अनुसरण किया है।

श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी की गणना हिन्दी के आचार्यों में है। आचार्य के उच्च आसन से उन्होंने कबीर तथा सूर की अत्यन्त गम्भीर आलोचना की। उनकी आलोचना पर आध्यात्मिक, तथा मनोवैज्ञानिक शैली की छाप है।

सर्वश्री नन्ददुलारे बाजपेई, गुलाबराय, शान्तिप्रिय द्विवेदी, चन्द्रबली पाण्डेय ने काव्य के आलोचना-क्षेत्र में बड़ा ठोस कार्य किया। इन विद्वानों की मौलिक आलोचनाएँ हैं। बाजपेईजी की आलोचना दुरूह भाषा के अन्तर्गत छिप सी जाती है। श्रीगुलाबराय की आलोचना अध्ययनात्मक शैली पर है। शान्तिप्रियजी की शैली में एक विचित्र प्रकार से तुलनात्मक तथा अध्ययनात्मक शैलियों का सम्मिश्रण है। द्विवेदीजी निःसन्देह इस उत्थान के उत्कृष्ट आलोचकों में हैं।

कवियों में काव्य के सर्वोत्कृष्ट आलोचक महाकवि निरालाजी हैं। ‘प्रबन्ध-पद्म’ में ‘पन्तजी और पल्लव’ शीर्षक ६५ पृष्ठ की आलोचना में पन्तजी के काव्य-गत दोषों पर विस्तृत प्रकाश डाला है। यह आलोचना देखकर हमें द्वितीय उत्थान के आलोचकों का स्मरण हो आता है।

जीवन-चरित्र की आलोचना

हिन्दी जीवन-चरित्र साहित्य का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। भारतेन्दु युग के पूर्व लिखित जीवन-चरित्र मुख्यतः भक्तों द्वारा राम और कृष्ण की या भगवत् भक्तों की जीवनगाथा अथवा शिवाजी इत्यादि वीरों का चरित्र मात्र थे। उनकी कोई विशेष आलोचना नहीं हो सकी। कारण कि जिस लक्ष्य से वे लिखे गये थे, वह साहित्यिक क्षेत्र से बाहर थे। वे जीवन-चरित्र भक्तों अथवा वृत्तान्त भक्तों के हृदय से निस्सृत प्रशंसा मात्र थी, इसी कारण उनकी आलोचना नहीं हो सकी।

आचार्य मिश्रबन्धु के शब्दों में “जीवन चरित्र रचयिताओं में सबसे पहले बड़े आदर के साथ महात्मा श्रद्धानन्द का नाम आता है।.....शिवनन्दनसहाय ने गोस्वामी तुलसीदास तथा भारतेन्दु के बहुत ही श्रेष्ठ जीवन-चरित्र लिखे।”

भारतेन्दु युग में भी जीवन-चरित्रों की कुछ अधिक रचना हुई। जीवन-चरित्र लेखकों में अम्बिकादत्त त्रिपाठी (१९४६), गोपाल वल्लभ (१९६०) उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु-युग में ही ‘वीर चरिता-वली’ की भी रचना हुई। इस पुस्तक की बहुत समय तक चर्चा रही। बहुत दिनों तक ‘हिन्दी-प्रदीप,’ ‘भारत जीवन’ इत्यादि पत्रों में आलोचना इस प्रकार हुई थी:—

“इस पुस्तक में मेजिनी नामक इटली का एक देशहितैषी का चरित्र अंगरेज़ी से अनुवाद किया गया है। भूमिका इस पुस्तक की अच्छी लिखी गई है। पढ़ने में बड़ी उत्तेजक और मनोरंजक ऐसी ही पुस्तक के प्रचार की हम लोगों में बड़ी आवश्यकता है। पुराने क्रम की कविता शृङ्गार रस की विनाशकारी कविता पढ़ते-पढ़ते उनकी रुचि बिगड़ गई है और मैली हो गई।”

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास:—मिश्रबन्धु पृष्ठ ३३४।

भारतेन्दु-युग के अन्तिम समय में पत्रों में भारतेन्दुजी के जीवन-चरित्र की बड़ी-बड़ी प्रशंसा की गई थी । अनेक पत्रों के सम्पादकों ने उसे केवल उत्कृष्ट कोटि का ही ग्रन्थ नहीं माना वरन् अत्यन्त उपादेय भी निश्चित किया था । इतनी प्रशंसा के योग्य न होते हुये भी उसकी प्रशंसा इस कारण हुई थी कि भारतेन्दु बाबू हिन्दी के उद्धारक थे अतः इसका प्रचार श्रद्धा की दृष्टि से करना चाहते थे ।

भारतेन्दु-युग में जीवन-चरित्रों की आलोचना उपादेयता की दृष्टि से हुई, कला और रचना में सफलता की दृष्टि से नहीं । वे चाहते थे कि साहित्य समाज को उठानेवाला हो और इसी दृष्टि से वे उसका मूल्यांकन करते थे ।

द्वितीय उत्थान में जीवन-चरित्रों की आलोचना भारतेन्दु-युग से अधिक हुई । परन्तु जो कुछ आलोचना की गई, वह अधिकतर परिचयात्मक रूप में हुई । कला और साहित्य की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया ।

तृतीय उत्थान में भी जीवन-चरित्र साहित्य का सृजन हुआ परन्तु आश्चर्य यह है कि आलोचकों की दृष्टि उन पर नहीं पड़ी । तृतीय उत्थान में निरालाजी ने 'कुल्ली भाट' की रचना की । इसने जीवन-चरित्र साहित्य में नवीन क्रान्ति का समावेश कर दिया । परन्तु साहित्यिकों को उसकी विशेष नवीनता पसन्द नहीं आई । फलतः 'कुल्ली भाट' शीघ्र ही साहित्यिक बबन्डर का लक्ष्य बन गई । सम्पादकों से लेकर साधारण पाठकों तक ने इसकी तीव्र आलोचना की । परन्तु यह पुस्तक इतनी कड़ी आलोचना के योग्य नहीं है । दुःख का विषय है कि हमारे साहित्यिक अपने दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य को देखना चाहते हैं; साहित्य के लिये उनकी रुचि लाभदायक हो या नहीं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं ।

निबन्ध साहित्य की आलोचना

निबन्ध लेखन हमारे साहित्य की बहुत पुरानी वस्तु नहीं है। परन्तु समाचार पत्रों के प्रकाशन के साथ-साथ निबन्ध-रचना में महत्वपूर्ण उन्नति हुई। भारतेन्दु-युग के प्रायः सभी साहित्यिक निबन्ध की रचना करते थे। उस समय निबन्धों की रचना मात्रा और कोटि—दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसी समय 'अद्भुत स्वप्न और यमपुर की यात्रा' तथा 'स्वर्ग में केशवचन्द्र सेन तथा स्वामी दयानन्द' जैसे उत्कृष्ट कोटि के निबन्धों की रचना की गई थी। इसी समय प्रतापनारायण मिश्र जैसे विचारात्मक निबन्धकार, भट्टजी जैसे भावात्मक निबन्धकार, 'प्रेमघन' जैसे आलोचनात्मक निबन्धकार, बालमुकुन्द जैसे व्यंगात्मक निबन्धकार हुए जिन्होंने साहित्य के रिक्त भाण्डार की पूर्ति की। कविता और निबन्ध ही तो दो साधन थे जिनमें व्यंगाल्ल छिपाकर लेखक प्रहार करते थे। इसी कारण व्यंग साहित्य के साथ-साथ निबन्ध साहित्य की उन्नति हुई।

प्रश्न यह होता है कि साहित्य को इतना समृद्ध बनानेवाले अंग की आलोचना पर्याप्त मात्रा में क्यों नहीं हुई। वास्तव में अधिक आलोचना न हो सकने का मुख्य कारण यह था कि उस समय नाट्य साहित्य का प्रधान स्थान था। निबन्ध की रचना केवल व्यंग अभिव्यक्ति के लिए हुई थी। फिर भी निबन्ध की आलोचना थोड़ी बहुत हुई अवश्य। उस युग में निबन्धों की रचना अन्य लक्ष्यों से भी हुई। साहित्यिक दृष्टिकोण से लिखित दो एक निबन्धों की आलोचना के उदाहरण दिये जाते हैं। "श्रीकविराज श्यामलदासजी लिखित 'पृथ्वीरायसे की नवीनता' और पं० मोहनलालजी लिखित 'पृथ्वीराजरायसे की प्रथम संरक्षा।'" इन दोनों को हमने भली-भाँति देखा। खेद का विषय है कि इन इतिहासों के पचड़े का मूल ही कुछ

ऐसा निर्मूल सा है कि अपने-अपने अनुकूल तर्क के अतिरिक्त और किसी विषय पर सुदृढ़ आस्था नहीं रखते यदि हम इस समय 'श्रीहर्ष' का सा त्याग धारण करने लग जाँय और इन दोनों महाशयों को भी भ्रम में लाना पड़े....दोनों लेख हमारे सामने हैं। इनकी उक्ति युक्ति से हमारा मेल नहीं मिलता।”^१

उपर्युक्त आलोचना में 'भारत जीवन' के सम्पादक के विवश हृदय का सहयोग दिखाई देता है और यह हृदय का सहयोग रासो को केवल हिन्दी का प्रामाणिक ग्रंथ बनाये रखने के लिये है। आलोचना का स्वरूप देखने से ज्ञात होता है कि आलोचना साहित्य अभी तक प्रौढ़ नहीं हो पाया था। प्रस्तुत आलोचना अधिकतर आत्मप्रधान हो गई है।

'पोपलीला' (लेखों का संग्रह) तथा 'दयानन्द मत खण्डन' (लेखों का संग्रह) की भी आलोचना पठनीय है जिसका 'भारत जीवन' के सम्पादक ने बड़ी तीव्रता से किया था:—

“इन दोनों पुस्तकों के लिखनेवाले दिल्ली के निवासी दो जगन्नाथ ही नामक कोई महाशय लोग हैं। ऐसी रद्दी पुस्तक की समालोचना लिखने का अवकाश नहीं है। 'पोपलीला' की जगह लोपलीला कहना चाहिए।.....धर्माधर्म परीक्षा.....में भी तो प्रगल्भ रीति नहीं है कि सराही जाय।”^२

“पोपलीला” और 'दयानन्द खण्डन' की आलोचना किस प्रकार की हुई, यह हमारे समक्ष है। आलोचना की तीव्रता और स्पष्ट-वादिता तो भारतेन्दु युग का प्रथम लक्षण है।

'कविवचन-सुधा' पत्र का प्रकाशन कुछ काल के लिये स्थगित

१—भारत जीवन—४ अप्रैल १८८७।

२—भारतजीवन—४ अप्रैल १८८७ पृष्ठ ४।

सा होगया था । 'भारत जीवन' ने इस समाचार को प्रकाशित कर दिया । कुछ समय के पश्चात् उस पत्र का पुनः प्रकाशन हुआ पर इस समाचार को 'भारत जीवन' ने नहीं प्रकाशित किया । इस नीति की आलोचना 'उचित वक्ता' पत्र ने और 'सज्जन कीर्ति' पत्र ने बड़ी तीव्रता के साथ की । उनकी आलोचना की प्रत्यालोचना भी पठनीय है ।”^१

भारतेन्दु-युग में निबन्ध साहित्य की अधिक आलोचना नहीं की गई । हिन्दी साहित्य के द्वितीय उत्थान में इस ओर पर्याप्त उन्नति हुई । मिश्रबन्धु, आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य शुक्लजी, लाला भगवानदीन, पं० पद्मसिंह शर्मा तथा पं० कृष्णबिहारी मिश्र जैसे उत्कृष्ट निबन्धकार तथा आलोचकों के द्वारा इस युग में निबन्धों की खूब आलोचना की गई ।

'देव-विहारी' वाद-विवाद पहले निबन्धों के आकार में चलता रहा, जिसने बाद को पुस्तकों का स्वरूप धारण कर लिया था । निबन्ध रूप में आचार्य द्विवेदी ने 'कालिदास की निरंकुशता' पर आलोचना लिखी थी । कुछ समय के पश्चात् जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने उसकी प्रत्यालोचना लिखी जो बाद में 'निरंकुशता-निदर्शन' नाम से प्रकाशित हुई । उदाहरणार्थ दो-एक उद्धरण इस प्रकार हैं—

“एप्रिल की सरस्वती में श्रीमान् द्विवेदीजी ने कालिदास की निरंकुशता पर विद्वानों की सम्मतियाँ छापी हैं । इस पर मुझे एक किस्स याद आता है । एक सज्जन कहा करते थे कि मैं भूतों से नहीं डरता हूँ पर जब कभी वह कब्रिस्तान के श्मशान के पास से निकलते थे तब सीटी बजाते, गाते और तेज़ी के साथ चलते थे जिसमें कोई यह न समझ ले कि वह डरते थे । बस, आजकल यही हालत द्विवेदीजी की हो रही है । उधर तो अपने इष्ट मित्रों से कह रहे हैं कि मैं इन तुच्छ

समालोचनाओं की परवा नहीं करता और इधर चुपके-चुपके सम्म-
तियाँ संग्रह करके छाप रहे हैं।”^१

उपर्युक्त अवतरण देखकर यही कहना होता है कि इस प्रकार की
साहित्यिक तू-तू—मैं-मैं साहित्य के लिये कभी भी श्रेयकर नहीं है।
इस प्रकार की आलोचना में पारस्परिक मनोमालिन्य की दुर्गन्धि मिलती
है। आलोचना साहित्य के लिए इस प्रकार की रचनाएँ हितकर
नहीं हैं।

आचार्य शुक्लजी की आलोचना विशेष रूप से स्तुत्य है। उनमें
आलोचना के तत्त्वों का पूरा ध्यान रखकर प्रकाश डाला गया है।

डा० श्यामसुन्दरदास की आलोचना अधिकतर साहित्य की
आत्मा और अन्तरंग विषयों पर रही। इस कारण उनको निबन्धों की
आलोचना करने का अवकाश नहीं मिला।

हिन्दी के तृतीय उत्थान में आलोचना का क्षेत्र और भी
विस्तृत हो गया। निबन्धों की आलोचना करनेवालों में डा० पीताम्बर-
दत्त बड़धवाल, डा० रामविलास शर्मा, निरालाजी, श्रीगुलाबराय एम०
ए०, श्रीचन्द्रबली पाण्डेय, श्रीशान्तिप्रिय द्विवेदी आदि विशेष रूप से
उल्लेखनीय हैं।

श्रीरघुपतिसहाय 'फिराग' की 'हिन्दी कवियों से बातचीत'
आलोचनात्मक निबन्धावली की अत्यन्त तीव्र आलोचना डा० राम-
विलास शर्मा ने 'सदाबहार सदासोद्भाग' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा।
इसमें शर्माजी ने खण्डनात्मक शैली का अनुसरण किया। इस आलो-
चना को देखकर हमें 'देव-बिहारी' तथा 'कालिदास' विषयक आलोचना
का ध्यान आ जाता है।

निरालाजी की आलोचना-शैली बिलकुल निराली रही है। उनकी

आलोचना शैली का एक उदाहरण 'चाबुक' से यहाँ उद्धृत किया जाता है:—

“सम्पादक माखनलाल चतुर्वेदी सितम्बर १९२३ ई० की ‘प्रभा’ के विचारप्रवाह में ‘प्यारे निरक्षर’ की बड़ी भावुकता से चित्रित करते हुये.....यह दोष नहीं कि आपके लेख और टिप्पणियाँ भावुकता की मारी हुई रस की खोज में रसातल पहुँच जाती हैं, या दूर की कौड़ी लाती हैं।.....लिखते हैं ‘बूढ़े मुजरिम मैं अब से तुम्हें जानने लगा हूँ’ वाह भाई महतो तुमने अच्छी शैली ढूँढ़ी तुम्हारे तू-तू में ‘गौरवे बहुवचनम्’ की जगह ‘सम्बोधने बहुवचन’ की खासी बहार है। वरना बूढ़े मुजरिम तशरीफ़ क्यों लाते।”

इधर कुछ समय से निबन्ध की आलोचना की नवीन पद्धति चल पड़ी है। आजकल प्रायः ६५% निबन्धों में दोषन्वेषण की प्रवृत्ति चली पड़ी है। उन आलोचनाओं में पारस्परिक वैमनस्य और मनोमालिन्य का बड़ा प्रखर रंग रहता है। उनका महत्व साहित्य की दृष्टि से कोई विशेष नहीं है। न उनमें आलोचना के तत्व और सिद्धि ही पाये जाते हैं। परन्तु आलोचना लेखक इस ओर लेशमात्र ध्यान नहीं देते।

आलोचना का ध्येय ‘साहित्यिक विशृङ्खलताओं को दूर करना’ होना चाहिये न कि साहित्यिक उन्नति का हास करना। आजकल की आलोचनाओं से साहित्यिक उन्नति के स्थान पर अवनति हो रही है।

कहानी साहित्य की आलोचना

‘सरस्वती’ के जन्म का इतिहास ही कहानी साहित्य के विकास का इतिहास है। भारतेन्दु-युग में कहानी साहित्य का अभाव रहा। भारतेन्दु-युग में निबन्ध और नाटक का विशेष महत्त्व रहा। सच तो यह है कि टैक्स, टिक्स, अकाल, महामारी तथा राजकीय अत्याचारों से पीड़ित और प्रतिहिंसा-पूर्ण हृदयों को कहानी के कल्पित जगत् में आकर्षण नहीं प्रतीत हुआ।

सन् १९०० ई० से कहानीलेखन प्रारम्भ हुआ। कहानियों की संख्या दिन पर दिन वृद्धि को प्राप्त हुई। हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी इन्दुमती की रचना किशोरीलाल गोस्वामी ने की थी। सन् १९११—’१३ तक कहानी साहित्य में हिन्दी के अमर कलाकार श्री-प्रेमचन्द्र तथा ‘प्रसाद’ जी कहानी साहित्य के प्रांगण में अवतरित हुये।

कहानियों की बढ़ती संख्या के साथ उनकी आलोचनाएँ भी लिखी जाने लगीं। समय पाकर ‘प्रसाद’ और प्रेमचन्द की कहानियों पर विश्वविद्यालयों में आलोचनात्मक खोजपूर्ण ग्रन्थों की रचना होने लगी।

कहानी साहित्य के प्रमुख आलोचकों में श्रीविनोदशंकर व्यास, डा० रामविलास शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेई इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं।

इधर कुछ समय से कहानी-साहित्य की वैज्ञानिक आलोचना खोज ग्रन्थों में डा० श्रीकृष्ण, डा० वाष्णोय इत्यादि द्वारा की गई है।

कहानी की मार्मिक आलोचनाएँ वर्तमान-काल में पर्याप्त मात्रा में लिखी गई हैं। ‘साहित्य-सन्देश’ तथा ‘हंस’ इत्यादि पत्रों में कहानी कला की पाश्चात्य ढंग पर आलोचना होने लगी है।

इस समय कहानी की आलोचना के लिये मासिक पत्र निकलने लगे हैं और इसमें उनके ‘विशेषांकों’ का विशेष सहयोग रहा है।

उपन्यास की आलोचना

भारतेन्दु-युग के अन्त में उपन्यासों का प्रकाशन हो चुका था । 'हिन्दी-प्रदीप' तथा 'नागरी नीरद' पात्रकाओं की निगाह उन पर पड़ चुकी थी । उन्होंने अपनी कसौटी पर उन उपन्यासों की परीक्षा कर ली थी । 'हिन्दी-प्रदीप' के सम्पादक ने 'प्रेमा' उपन्यास की आलोचना इस प्रकार की थी:—

“दो विधवाओं के विवाह का प्रस्ताव इसमें है । लिखनेवाले ने तो अपने समक्ष में विधवा विवाह की प्रथा के अनुमोदन में इसे लिखा है, पर सो नहीं, विधवा विवाह की जीट इसमें भले ही उड़ती है । इन्डियन प्रेस के मालिक को चाहिये कि ऐसी पुस्तकें न छापें ।”

उपर्युक्त आलोचना में तीव्रता देखकर उस समय के आलोचकों की प्रवृत्ति का ज्ञान होता है । उस युग में आख्यायिका और उपन्यासों की आलोचना अधिक नहीं हो सकी । उसका कारण केवल यही था कि परिस्थितियों और आवश्यकताओं ने उस युग के लेखकों को नाटक और निबन्धों में जकड़ रखा था ।

हिन्दी के द्वितीय उत्थान और तृतीय उत्थान में प्रेमचन्द की उपन्यास कला तथा 'प्रसाद' जी के उपन्यासों की विशद आलोचना करनेवालों में डा० रामविलास शर्मा, डा० जनार्दन झा, शान्तिप्रिय द्विवेदी तथा शिवनारायण टण्डन उल्लेखनीय हैं ।

हिन्दी के प्रमुख आलोचक

‘आलोचना का क्रमिक विकास’ परिच्छेद में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि आलोचना का प्राथमिक स्वरूप अन्तर्भाष्यों तथा टीकाओं में प्रतिबिम्बित होता है। परन्तु उन टीकाओं में आलोचना के तत्त्वों का अभाव है। वास्तव में आलोचना प्रस्तुत करना उनका लक्ष्य भी तो नहीं था। उसे सत्काव्य का साधुवाद मात्र कहा जा सकता है। कारण कि, टीकाकार मुख्यतः उत्कृष्ट कोटि के काव्य-ग्रन्थों की टीका करने की आवश्यकता समझते थे। उस समय टीकाओं का ही महत्त्व रहा, इस कारण जनता का ध्यान टीका-लेखन कार्य से आगे नहीं बढ़ सका। काव्य की टीका होने के प्रायः तीन स्थान थे। प्रथम, गुरुकुल जहाँ विद्यार्थियों को गुरु मौखिक शिक्षा देते थे। वे काव्य के गुणों की ओर संकेत करते जाते थे। टीका होने का दूसरा स्थान विद्वत् मण्डली थी। इस प्रकार की सभा में चार विद्वान् एकत्रित होकर निर्दिष्ट साहित्य के गुण दोष पर प्रकाश डालते थे। टीकाओं की रचना का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान राज दरबार थे। राजा भोज जैसे साहित्यिक रुचिवान् अनेक नरेश हुये हैं। पुरस्कार के लोभी विद्वानों का जमाव उनके चारों ओर लगा ही रहता था। स्वभावतः पुरस्कार का वही भागी होता था, जो उत्कृष्ट साहित्य का रचयिता होता था। इस प्रकार सबसे महत्त्वपूर्ण तथा आकर्षक स्थान—राज दरबार में हर प्रकार की टीकाएँ हुआ करती थीं।

हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का जो स्वरूप दिखाई देता है। शीघ्र ही रस अलंकार परिपाटी ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। रस और अलंकार परिपाटी की आलोचना के पश्चात् हिन्दी का अत्यन्त प्रकाशमान समय तथा उन्नति प्रधान युग—भारतेन्दु-युग

का उदय होता है। भारतेन्दु-युग जिस प्रकार साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति का कारण बना; उसी प्रकार आलोचना साहित्य का भी। इस समय साहित्यिकों को आलोचना के विकसित रूप के दर्शन हुये। आलोचना को सुचारु स्वरूप प्रदान करनेवाले सर्वप्रथम साहित्यिक भारतेन्दु बाबू थे। हिन्दी आलोचना साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु ने ही सर्वप्रथम 'नाटक' शीर्षक में हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेज़ी नाटकों की गम्भीर तथा विशद आलोचना प्रायः ६० पृष्ठों में की थी। इस आलोचना में भारतेन्दु-युग के पूर्व विरचित सभी नाटकों के गुण दोषों का उल्लेख सविस्तार हुआ है। साथ ही साथ उन नाटकों में नाट्य कला की भी विवेचना मिलती है। इस निबन्ध के पूर्व हिन्दी आलोचना की कोई निर्धारित रूप रेखा नहीं थी। वास्तव में भारतेन्दु ने ही सर्वप्रथम हिन्दी आलोचना को जन्म दिया और पालन-पोषण उनके समकालीनों ने किया। यद्यपि भारतेन्दु के समक्ष कोई भी आलोचना का आदर्श नहीं था; तथापि उनके द्वारा रचित सर्वप्रथम आलोचना का स्वरूप इतना स्पष्ट है कि जान पड़ता है कि एक विशेष आलोचना पद्धति बहुत पहले से चली आ रही है।

भारतेन्दुजी की आलोचना में पर्वरचयात्मक तथा तुलनात्मक शैली का अनुसरण किया गया है।

भारतेन्दुजी ने अपने द्वारा सम्पादित पत्रों में आलोचना को अधिक स्थान नहीं दिया। इसका कारण यह है कि वह रचनात्मक समय था। उस समय साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति अबाध गति से हो रही थी। आलोचना एक प्रकार से साहित्यिक बाधा के रूप में उपस्थित हो सकती थी। इसीलिये आलोचना को प्राधान्य नहीं दिया जा सका।

भारतेन्दु के समकालीन श्रीबालकृष्ण भट्ट का आलोचना साहित्य की श्रीवृद्धि में बड़ा सहयोग रहा। हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम

भारतीय तथा योरोपीय विद्वानों की तुलनात्मक आलोचना करने का श्रेय भट्टजी को ही है। उदाहरणार्थ एक उद्धरण यहाँ पर दिया जाता है:—“वेदों की कणाद और कपिल के शास्त्रों तथा कालिदास और भवभूति के वाक्यों से तुलना करते हुये उन्होंने जो कुछ लिखा है वह उनकी विद्वत्ता, विचारस्वाधीनता तथा शब्दकृपणशैली का बड़ा अच्छा उदाहरण है।” भट्टजी ने संवत् १९४३ विक्रम में श्रीनिवासदास जी कृत ‘संयोगिता-स्वयम्बर’ नाटक की बड़ी विस्तृत आलोचना की थी। आलोचना स्वयं इसका प्रमाण है कि भट्टजी कितने स्पष्टवादी थे। भट्टजीकृत आलोचना में तीव्र व्यंग्य भरे शब्दों का प्रयोग खूब मिलता है। अपने समकालीनों द्वारा प्रशंसित ‘संयोगिता-स्वयम्बर’ की आलोचना उन्होंने ‘सच्ची समालोचना’ के लक्ष्य से की थी। स्पष्ट तथा तथ्यवादिता का प्रधान गुण भट्टजी में पर्याप्त मात्रा में उपस्थित था।

भट्टजी की आलोचनाशैली खरडनात्मक थी। आलोचना में आलोच्य के गुण और दोषों की ओर संकेत करके वे अपने कर्त्तव्य की पूर्ति न समझ लेते थे। आलोच्य के तुलनात्मक अध्ययन की परिपाटी के प्रवर्त्तक भट्टजी ही थे। उन्होंने भारतेन्दुजी से आलोचना की दिशा में एक कदम आगे बढ़ाया। जितनी तीव्र और कठोर आलोचना भट्टजी ने ‘संयोगिता स्वयम्बर’ की लिखी थी उतनी उस युग में ‘प्रेमघन’ को छोड़कर और किसी ने किया ही न था।

भट्टजी के समस्त भारतेन्दु ने आलोचना का स्वरूप रख दिया था, परन्तु भारतेन्दु से इनकी शैली अधिक गठी और परिष्कृत थी। उस युग के साहित्यिकों ने मुख्यतया नाटकों की आलोचना की थी, परन्तु भट्टजी ने एक सम्पादक होने के नाते से साहित्य के सभी अंगों की आलोचना अपने पत्र ‘हिन्दी-प्रदीप’ में की थी। ‘हिन्दी-प्रदीप’ का लगातार ३८ वर्ष तक का प्रकाशन हिन्दी समाचार पत्र साहित्य के

इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है और आलोचना के विकास तथा परिष्कार का श्रेय 'हिन्दी-प्रदीप' को भी था ।

'ब्राह्मण' पत्र के सम्पादक यशस्वी स्वनामधन्य श्रीप्रतापनारायण मिश्र ने हिन्दी आलोचना के विकास में पर्याप्त उद्योग किया । मिश्रजी सट्टा साहित्यिक अभिरुचि के आलोचक थोड़े ही हुये हैं । मिश्रजी की आलोचना शैली उनके सैलानीपन और फक्कड़पन के बोझ से दबी हुई है । 'ब्राह्मण' उस युग का प्रमुख पत्र रहा है फिर भला उसके स्तम्भ (कालम) आलोचना से रहित कैसे रह सकते थे । भट्टजी के समान मिश्रजी की आलोचना में भी स्पष्टवादिता तथा संक्षेपत्व प्रधान गुण है ।

मिश्रजी की आलोचना शैली परिचयात्मक तथा खण्डनात्मक थी ।

भारतेन्दुजी तथा भट्टजी द्वारा निर्धारित आलोचना शैली को सुचारु तथा सुष्ठु बनाने का श्रेय 'आनन्द कादम्बिनी' के सम्पादक श्रीबदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' को है । प्रेमघनजी को कुछ विद्वान् आधुनिक आलोचना के प्रवर्तक मानते हैं; परन्तु यह भ्रम है । भारतेन्दुजी तथा भट्टजी द्वारा आलोचित साहित्य इसका प्रमाण है ।

'प्रेमघन' की आलोचनात्मक शैली डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के शब्दों में इस प्रकार है:—“आलोच्य पुस्तक के विषय का विवेचन करते हुये उसके गुण दोष पर यथोचित रूप से प्रकाश डालने की परिपाटी को जिसका प्रचार अब तक न्यूनाधिक रूप में पाया जाता है और जो गुण दोष निरूपिणी प्राचीन पण्डिताऊ परिपाटी पर ही समाधारित कही जा सकती है, उन्हीं ने प्रचलित किया था । यह पण्डिताऊ परिपाटी का अत्यन्त कोमल स्वरूप हमें भारतेन्दु बाबू तथा भट्टजी की आलोचना में भी मिलता है ।”

भारतेन्दु बाबू तथा भट्टजी आलोचना के गुण-दोषों की ओर समान रूप से संकेत करते थे । परन्तु 'प्रेमघन'जी छिद्रान्वेषण की ओर अधिक रुचि रखते थे । उनकी आलोचना में दोषों का अधिक उल्लेख हुआ है । 'प्रेमघन' की आलोचना-शैली का एक दोष यह है कि उसमें अनावश्यक विस्तार बहुत है । वास्तव में 'प्रेमघन' की आलोचना में "मनन और अध्ययन करने योग्य सामग्री.....कुछ विशेष नहीं है ।"१ फिर भी उन्होंने आलोचना-शैली की प्रगति में सहायता अवश्य दी थी । हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में जो कार्य 'हिन्दी-प्रदीप' और 'ब्राह्मण' ने किया, उसे अग्रसर करने में 'आनन्द कादम्बिनी' ने भी पर्याप्त सहायता दी ।

भारतेन्दु-युग में श्रीबालमुकुन्द गुप्त अपने व्यंग के लिए विशेषतया प्रसिद्ध हैं । गुप्तजी की आलोचना में भी व्यंग की प्रधानता है । उनकी आलोचना में तीव्रत्व अधिक है । भारतेन्दु-युग साहित्यिक नवोदय का समय था । वह साहित्य का रचनात्मक काल था । आलोचना के क्षेत्र में भी अच्छी तथा अध्ययन के योग्य उन्नति हुई ।

आलोचना की उन्नति में सहयोग देनेवाले अन्य पत्रों में 'भारत-जीवन,' 'भारत-मित्र,' 'कवि-वचन-सुधा,' 'सुधा-सार-निधि' उल्लेखनीय हैं ।

हिन्दी के द्वितीय उत्थान में आलोचकों की प्रवृत्ति तथा दृष्टिकोण में एक महान् परिवर्तन समुपस्थित हो गया । इस समय तक पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव तथा अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार हो चुका था । लोग उसी के रंग में अनुराजित हो चुके थे । अंग्रेज़ी की शिक्षा ने आलोचकों के दृष्टिकोण को विशेष रूप से परिष्कृत और सुरुचिपूर्ण बना दिया । आलोचकों को अपने कर्तव्य तथा अधिकार का ज्ञान भली-

भाँति हो गया था । भारतेन्दु-युग की पुरानी तथा पण्डिताऊ शैली अब बिदा होकर नवीन शैलियों के लिये स्थान रिक्त कर चुकी थी । परिचयात्मक आलोचना का अधिक सुसंस्कृत स्वरूप साहित्य समीक्षा निर्धारित हुआ ।

‘आलोचना का क्रमिक विकास’ परिच्छेद में विभिन्न आलोचना-शैलियों पर विचार हो चुका । यह भी दिखाया जा चुका है कि नाटक, काव्य, जीवन-चरित्र इत्यादि की किस प्रकार आलोचना होती आ रही है । अब यहाँ पर द्वितीय उत्थान के प्रमुख आलोचकों की नवीन और मौलिक शैली, प्रवृत्ति, व्यक्तित्व तथा प्रभाव पर प्रकाश डाला जायगा । द्वितीय उत्थान में आलोचना की प्रतिभा बहुमुखी हो गई थी । इस समय नवीन अनुसंधानों और वैज्ञानिक शैली पर साहित्य की समीक्षा प्रारम्भ हुई । पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ‘नैषध-चरित-चर्चा’ में श्रीहर्ष का समय निरूपित किया और जीवन-चरित्र पर प्रकाश डाला । प्रस्तुत ग्रन्थ में ‘नैषध-चरित्र’ की परिचयात्मक आलोचना भी की गई । द्विवेदीजी ने इसी प्रकार कालिदास का समय निरूपण के साथ ही उनके काव्य पर नवीन प्रकाश डाला ।

द्विवेदीजी ने समालोचना सिद्धान्त पर भी यत्र-तत्र अच्छे निबन्ध लिखे; जिनमें पूर्वी तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों का सामञ्जस्य स्थापित किया गया है । द्विवेदीजी ने आलोचना क्षेत्र में विशेष कार्य यह किया कि इस समय तक आलोचना केवल पत्रों तक ही सीमित थी । परन्तु द्विवेदीजी ने इस कमी की पूर्ति की ।

ब्रज भाषा और खड़ी बोली के कवि, हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखक, उपन्यास तथा नाटकादि के रचयिता तथा नाटकादि के रचयिता तथा विद्वान् मिश्रबन्धु का अनुसन्धान कार्य इस उत्थान में विशेष रूप से उल्लेखनीय है । हस्तलिखित ग्रन्थों की जो खोज डाक्टर श्यामबिहारी मिश्र—मिश्रबन्धु ने नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में की

वह हमारे द्वितीय उत्थान के आलोचनात्मक साहित्य का गौरव कहा जा सकता है। डा० श्यामबिहारी मिश्र के पश्चात् रा० ब० पं० शुक्र-देवबिहारी मिश्र ने यह कार्य सँभाला और बड़ी योग्यतापूर्वक इसकी पूर्ति की। जो कवि और लेखक हिन्दी साहित्य में अज्ञात होकर विस्मृत के अन्धकार में विलीन हो रहे थे उनको प्रकाश में लाकर मिश्रबन्धु ने प्रशंसनीय कार्य किया।

मिश्रबन्धु का 'मिश्रबन्धु-विनोद' भी उनके आलोचनात्मक ग्रन्थों में उल्लेखनीय है। उनकी आलोचना का सबसे उत्तम ग्रंथ 'हिन्दी-नवरत्न' है। इसमें उनकी आलोचना की स्वच्छ अन्तरात्मा प्रतिबिम्बित है।

मिश्रबन्धु ने संस्कृत-आचार्यों की आलोचना परिपाटी का आश्रय लेकर और उनके प्रशंसनीय प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर अपनी आलोचनाओं की रचना प्रस्तुत की। संस्कृत के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए भी मिश्रबन्धु ने उसमें नवीनता का सञ्चार किया, जिससे वह अधिक रुचिकर तथा आकर्षक हो गई। उनकी आलोचना में हृदय और मस्तिष्क का सुन्दर सहयोग दिखाई देता है।

यहाँ डा० श्यामसुन्दरदास का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। 'साहित्य-समालोचना' की उत्कृष्ट शक्ति लेकर डाक्टर साहब आलोचना प्राङ्गण में अवतरित हुए। डाक्टर साहब ने हिन्दी में पाश्चात्य साहित्य समालोचना का स्वरूप दिखाकर उससे संस्कृत के आचार्यों के मतों की तुलना की और साथ-ही-साथ उसमें सामञ्जस्य की स्थापना करके यह मत प्रतिष्ठित किया कि वास्तव में पाश्चात्य तथा संस्कृत के आचार्यों के दृष्टिकोण में कोई विशेष अन्तर नहीं है। यह कार्य हमारे साहित्य में सर्वप्रथम डाक्टर साहब ने ही सुलभ किया। आप ही के भगीरथ प्रयत्न से हिन्दी में भाषा का आलोचनात्मक अध्ययन प्रारम्भ

हुआ और 'भाषा-विज्ञान,' 'भाषा-रहस्य' आदि आवश्यक पुस्तकों की रचना करके आपने एक बड़ी भारी कमी की पूर्ति की।

हिन्दी के द्वितीय तथा तृतीय उत्थान में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना शैली विशेष रूप से विचारणीय है। शुक्लजी ने आलोचना-क्षेत्र में एक नवीनता तथा मौलिकता का समावेश कर दिया, जिसका हमारे साहित्य में अभाव था। शुक्लजी की आलोचना-शैली में पाश्चात्य सिद्धान्तों की घनी प्रतिच्छाया वर्तमान है।

आचार्य शुक्लजी की आलोचना-शैली में जो सरसता तथा रोचकता होती है, उर्मा का विकसित रूप आज अनेक आलोचकों में प्रतिबिम्बित होता है। शुक्लजी ने आलोच्य की विवेचना में बुद्धि का तो उपयोग किया ही, साथ ही हृदय का भी सहयोग लिया।

आलोचना का मुख्य लक्ष्य आलोच्य साहित्य की विशेषताओं का उद्घाटन होना चाहिये। इसके लिये विवेचना में स्पष्टता का होना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य शुक्ल ने इस स्पष्टता की अवतारणा के हेतु अनेक शैलियों का आश्रय ग्रहण किया था। वे विवेच्य विषय को स्पष्ट करने के हेतु यदि उसका विभाजन करते थे, तो ऐसा करते थे कि उसका एक-एक विभाग ग्रहण कर उसकी सुस्पष्ट विवेचना करते थे। इसी कारण उसमें किसी प्रकार का उलझाव नहीं रह जाता था। सूर की आलोचना को उन्होंने विभाव तथा अनुभाव पक्षों में विभाजित कर लिया था। आलोचना की स्पष्टता के हेतु शुक्लजी अन्य शैलियों का भी आश्रय लेते थे। वे पहले विवेच्य की सामान्य बातों पर प्रकाश डाल लेते थे, तब कहीं विशिष्ट बातों पर विचार करते थे। 'पद्मावत' की 'प्रेम-पद्धति' इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

विवेचना में स्पष्टता के संधान के हेतु आचार्य शुक्ल विषय की दुरूहता का स्पष्टीकरण यत्र तत्र स्वयं संभाव्य प्रश्नों की अवतारणा कर उनके उत्तर के द्वारा कर देते थे। उदाहरणार्थ :—“फिर लक्ष्यार्थ

या व्यंग्यार्थ का काव्य से प्रयोजन क्या ? वाच्यार्थ के बाधित, व्याहत या अनुपपन्न होने पर लक्षणा और व्यञ्जना के सहारे योग्य और बुद्धि-साध्य अर्थ प्राप्त करने का प्रयास क्यों किया जाता है ?”^१

शुक्लजी ने आलोच्य को ‘सद् अथवा असद्’ तक ही नहीं सीमित रक्खा, वरन् वे उसकी सूक्ष्म बातों की भी विवेचना करते थे। उदाहरण के लिए ‘तुलसी के काव्य में उदासीनता के भाव,’ ‘काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था,’ ‘साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य-वाद’ इत्यादि प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। ये सभी उनकी गम्भीर आलोचना-शैली के परिचायक हैं।

आचार्य शुक्लजी ने काव्य के सम्बन्ध में आये अन्य शास्त्रों की भी विवेचना अपनी आलोचनाओं में की थी। यथा, उनकी आलोचनाओं में यत्र तत्र काव्य को स्पष्ट करने के लिये दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन है। इसके द्वारा शुक्लजी का दर्शन-सम्बन्धी ज्ञान भी स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ जायसी की आलोचना में ‘मत और सिद्धान्त’ के अन्तर्गत दिया हुआ दार्शनिक विवेचन देखा जा सकता है, जिसमें आलोचक ने सूक्तियों के तत्त्वों पर प्रकाश डाला है।

आलोचना में साहित्य की किसी धारा को स्पष्ट करने के लिये उसके तत्त्वों पर विचार भी शुक्लजी ऐतिहासिक दृष्टि से करते थे। उदाहरणार्थ ज्ञानमार्ग, सन्तों तथा सूक्तियों के रहस्यवाद का स्वरूप-निर्धारण उनके सम्प्रदाय के इतिहास को दृष्टि में रख कर किया। उन्होंने इनकी परिभाषा नहीं दी है, वरन् उसका इतिहास अंकित कर दिया है जिससे स्वरूप और भी स्पष्ट हो जाता है।

शुक्लजी की प्रकृति उनके गम्भीर साहित्य पर प्रतिबिम्बित होती है। पर इसके साथ ही उनकी आलोचना में हास्य और व्यंग्य के उदा-

हरण उपलब्ध होते हैं। उनके इस श्रम से आलोचना का दुरूह कार्य सरसता में परिणत हो जाता था। आलोचना में प्रयुक्त व्यंग्यों में तीव्रता का अभाव है। उनके व्यंग्य मृदु फिर भी प्रभावशाली तथा परिष्कृत हैं।

तृतीय उत्थान में आलोचकों की प्रवृत्ति में अन्तर समुपस्थित हुआ। इस समय सैद्धान्तिक, तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक तथा अध्ययनात्मक शैलियों का प्रयोग आलोचना के क्षेत्र में अच्छे प्रकार हुआ।

इस समय आलोचना केवल परिचय के रूप में ही न रह गई, वरन् वह बहुमुखी प्रतिभावान् हो गई। इस उत्थान में लिखी गई आलोचना के हम चार भेद कर सकते हैं :—१—साहित्य समीक्षा (Literary-Review), २—खोज और अध्ययन (Research), ३—समालोचना-सिद्धान्त तथा ४—गम्भीर आलोचना।

इस युग में 'खोज तथा अध्ययन' के रूप में महत्त्वपूर्ण आलोचनाएँ हुईं।

पुस्तक-समालोचना

पत्र-पत्रिकाएँ प्रत्येक साहित्य की बहुमूल्य निधि हैं। साहित्य के निर्माण और प्रगति में पत्र-पत्रिकाओं का विशेष हाथ रहता है। हिन्दी के पत्रों द्वारा कविता, कहानी, नाटक तथा जीवनचरित्र साहित्य के सृजन में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है। परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि हिन्दी में पत्रों का बाहुल्य होने पर भी आलोचना साहित्य की उन्नति मन्थर गति से हुई है। भारतेन्दु-युग में अनेक मासिक, अर्ध मासिक, साप्ताहिक तथा दैनिक पत्रों का प्रकाशन होता था। परन्तु उनमें आलोचना का कैसा स्वरूप दृष्टिगोचर होता है यह गत परिच्छेदों में

अंकित किया जा चुका है। 'पुस्तक-समालोचना' भारतेन्दु युग में इतनी प्रिय नहीं थी, जितनी द्विवेदी युग तथा वर्तमान काल में है। पुस्तक-समालोचना का तात्पर्य यहाँ उन समालोचनाओं से है, जो समय-समय पर पत्रिकाओं में परिचयात्मक रूप में छुपा करती हैं। साहित्यिक समीक्षा अथवा लेखबद्ध आलोचनात्मक विचारों का पुस्तक-समालोचना से कोई सम्बन्ध नहीं है।

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में यह नियम सा चल पड़ा है कि सम्पादक उन्हीं पुस्तकों की आलोचना करता है, जो उसके पास समालोचनार्थ आती हैं। फलतः लेखक तथा प्रकाशक अपने प्रयत्न की परख के लिए पुस्तकों की एक-एक प्रति सम्पादकों के पास भेज देते हैं। इससे रचना का मूल्य भाँ स्पष्ट हो जाता है, और साथ ही पुस्तक का विज्ञापन भी हो जाता है। उपहारस्वरूप प्रेषित पुस्तकों को सम्पादक व्यक्तिगत सम्पत्ति समझते हैं, अतः वे ऐसी रचनाओं की आलोचना पत्रिकाओं में नहीं प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार हिन्दी के कुछ सम्पादकों ने दो-दो प्रतियाँ भँगाने का नियम सा बना लिया है। वास्तव में यह कितनी अनुचित बात है। समालोचना के लिए एक से अधिक पुस्तक माँगना बहुत ही कुरान्वि-पूर्ण बात है।

प्रायः लेखक और प्रकाशक प्रकाशित रचना की एक-एक प्रति सभी सम्पादकों के पास भेज देते हैं। परन्तु यह उनकी बड़ी भूल है। पुस्तक उसी सम्पादक के पास जानी चाहिए, जो लेखक से किसी प्रकार कम योग्य न हो। अयोग्य व्यक्ति पुस्तक की महत्ता और गम्भीरता समझने में अशक्त रहेगा। पुस्तक-प्रेषकों को चाहिए कि पहले पत्रिका की नीति समझ लें, तब समालोचनार्थ पुस्तक भेजें। 'हल' एक कृषि-प्रधान पत्र है। यदि उसके सम्पादक के पास अलंकार-शास्त्र अथवा अध्यात्मवाद की कोई पुस्तक समालोचनार्थ भेजी जाय, तो इसमें भूल किसकी कही जायगी ? आवश्यक यह है कि पुस्तक जिस विषय पर

लिखी गई हो, उसी साहित्य के विद्वानों द्वारा आलोचित भी हो। एक बार आचार्य द्विवेदीजी के पास एक पुस्तक भेजी गई, जिसमें जैनो और आर्यों के धार्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ था। द्विवेदीजी को आर्य-समाज से कोई विशेष प्रेम नहीं था। अतः उदासीन भाव से 'सरस्वती' में इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये थे—“यदि इस विवरण में लिखी हुई बातें सच हैं, तो पक्षपातरहित पाठक के हृदय में उसके पाठ से यह धारणा हुए बिना नहीं रह सकती कि सभ्यता विहित व्यवहार और वितण्डा में आर्य-समाज जितना आगे बढ़ा हुआ है न्यायानुमोदित शास्त्रार्थ या विचार में उतना ही पीछे है।” वास्तव में उचित यह था कि सरस्वती जैसी साहित्यिक पत्रिका में इस प्रकार की धार्मिक पुस्तक भेजी ही न जाती। फिर यदि भेजी भी गई थी, तो अपनी पत्रिका की नीति के बाहर की पुस्तक होने के कारण वह लौटा दी जाती।

तात्पर्य यह कि पत्रों को स्वनीति देखकर समालोचनार्थ पुस्तक स्वीकार करनी चाहिए! इसमें अपमानित होने की कोई बात भी तो नहीं है। कारण—एक मनुष्य प्रत्येक बात में समानरूपेण ज्ञानवान् नहीं हो सकता।

समालोचना में क्या-क्या होना चाहिए, यह भी विचारणीय प्रश्न है। इस प्रकार की समालोचना में पुस्तक का नाम, लेखक तथा प्रकाशक का नाम, मूल्यादिक विवरण आरम्भ में होना आवश्यक है। इसके बाद प्रतिपादित विषय पर प्रकाश डालना अभीप्सित है। अन्त में लेखक की लक्ष्य-पूर्ति तथा रचना की उपादेयता के विषय में उल्लेख होना चाहिए। आलोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह लेखक के व्यक्तित्व की रक्षा करता रहे। लेखक के व्यक्तित्व को अन्धकार में कर देना समालोचना का साहित्यिक मूल्य नष्ट कर देना है। ध्यान रहे, समालोचना का उद्देश्य लेखक को उसकी भूलों की ओर संकेत करना मात्र है, न कि उपहास करके उसे हतोत्साह कर देना। समालोचक को एक मार्गप्रदर्शक की भाँति होना चाहिए।

वर्तमान परिस्थितियाँ

आज हमारे समक्ष उपस्थित साहित्यिक परिस्थितियाँ वैसी नहीं हैं, जैसी भारतेन्दु-युग या द्वितीय उत्थान (द्विवेदी-युग) में थीं। भारतेन्दु-जी के समय में देश तथा समाज की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी ही थीं, कि उस युग के लेखकों को व्यंग्य तथा उपहास का सहारा लेना आवश्यक हो गया था। 'साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है' यह कथन और भी सत्य प्रमाणित होता है, जब हम भारतेन्दु-युग में सृजित साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं। उस समय का साहित्य देखकर एक विचित्र कोलाहल तथा अशान्तिपूर्ण हलचल का अनुभव होता है। व्यंग्य तथा उपहासपूर्ण साहित्य की रचना करते-करते उस युग के आलोचकों में तीव्रता तथा स्पष्टवादिता की स्पष्ट छाप अंकित हो गई थी।

हिन्दी के द्वितीय उत्थान में देश और समाज की परिस्थितियाँ बदली और कुछ शान्ति का अनुभव होने लगा। साहित्य-सृजन का लक्ष्य बदला और साहित्यिकों की रुचि में परिवर्तन लक्षित होने लगा। राजकीय अत्याचार, 'टिक्स' और अकाल-जनित कष्ट घोषणा-पत्रों के पीछे छिपा दिए गये। निःसहाय और निरीह जनता भोले बालक की भाँति नये खिलौने को पाकर अपना कष्ट भूल गई। शिक्षित भारतीय नवयुवकों के पैरों में नौकरी की बेड़ी डाल दी गई और हाथों में चाँदी की हथकड़ी। अबोध भारतीय, लॉर्ड मैकाले की काली नीति में पूर्णतया अनुरजित हो गये। सम्राट् द्वारा दिये गये आश्वासनों का पूरा प्रभाव पड़ा। फलतः आशा ने प्रतिकार को ज्वाला में बिदग्ध हृदयों पर तुषार-पात किया। जनता के प्रतिनिधि साहित्यिकों की लेखनी से लोक-भावना के गीत और राग फूट पड़े। उस समय सुधारवादियों का भी प्रभाव किसी प्रकार से साहित्य पर कम नहीं पड़ा। इस समय तक जनता की प्रतिशोध की पिपासा शान्त हो चुकी थी; इसी कारण वह शुद्ध साहित्य-

सेवा की ओर प्रवृत्त हुई। निश्चिन्त साहित्यिकों का मस्तिष्क साहित्य की सूक्ष्म बातों की ओर दौड़ा, और नवीन साहित्य का सृजन अबाध गति से होने लगा। साहित्य-जगत् में मौलिकता ने पिष्ट पेषण का स्थान ग्रहण किया। साहित्य-सृजन का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया। इसी द्वितीय उत्थान में 'जुही की कली' जैसी कविताओं से कवियों ने जनता को आनन्द-विभोर किया। 'निराला' और 'प्रसाद' जैसे कवियों ने छायावाद को जन्म इसी समय दिया। 'उसने कहा था', 'आत्माराम' तथा 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी अमर कहानियों की रचना गुलेरीजी, और प्रेमचन्द ने इसी समय की। प्राचीन भारतीय संस्कृति के उद्धारक 'स्कन्दगुप्त' नाटक की रचना इसी उत्थान में हुई और आलोचना में नवीन क्रान्ति का समावेश करनेवाली रचनायें आचार्य शुक्लजी ने इसी समय की थीं।

तृतीय उत्थान अथवा वर्तमान युग में द्वितीय उत्थान में न रह गई। दासता और परतंत्रता की शृंखलाओं में जकड़े भारतवासियों की आशा निद्रा से उचट गई और उनके महात्मा गांधी की नीति की शीत वात का झोंका लगा। छायावाद के काल्पनिक जगत् में यथार्थवाद की प्रतिष्ठा हुई। 'जुही की कली' के लेखक ने 'कुकुरमुत्ता' की रचना की। कहानी के कल्पित पात्रों के स्थान पर दैनिक जीवन से पात्रों का चुनाव होने लगा और 'चतुरी चमार' जैसी कहानियों ने प्रेम और रोमांस का स्थान ग्रहण किया। यशपाल और उनके साथियों ने उपन्यास-पाठकों को भी क्रान्ति तथा विप्लव के पाठ पढ़ाना आरम्भ कर दिया। 'पल्लव'कार ने 'ग्राम्या' के गीत 'युगवाणी' के स्वर में गाए। 'प्रेमी'जी के नाटकों की देश-प्रेम-पूर्ण कथावस्तु ने 'प्रसाद'जी के प्रेममय स्वर-स्वप्नों को भंग कर दिया। समाजवाद तथा साम्यवाद के स्वर से साहित्य गुञ्जरित हो उठा। स्तालिन तथा कार्ल मार्क्स से प्रभावित साहित्यिकों ने एक नया स्वर गाया, जो प्रगतिवाद के नाम से विख्यात हुआ। यह तो हुई

साहित्य-सृजन की बात, अब उस सृजित साहित्य के प्रभाव पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है।

साहित्य जनता को सबसे अधिक प्रभावित करने का साधन है। साहित्य ही मानव-विचारों में कायापलट करने का एक बड़ा साधन है। देशों की राज्यक्रान्ति इसके प्रमाण हैं कि साहित्य ने ही जनता के हृदय में क्रान्ति बीज वपन किया था। वर्तमान काल में प्रगतिवाद, समाजवाद इत्यादि विचारों से प्रभावित भिन्न-भिन्न प्रकार के साहित्य का सृजन हुआ। हमारे दैनिक जीवन के संघर्षों ने हमें धक्का देकर कल्पना जगत् से वास्तविकता की ओर जाने के लिये प्रेरित किया। आज की समस्याएँ नव-राष्ट्र-निर्माण की समस्याएँ नहीं हैं, वरन् हमारी रोटियों की समस्या है। बंगाल के अकाल और भूख से मृत मानववर्ग को देखकर कवियों की लेखनी ने अश्रुपात किया।

युग के आलोचकों का अस्तित्व रचना-साहित्य से भिन्न नहीं है। काव्य के सभी गुणों से अलंकृत, माधुर्य से ओतप्रोत रीतिकालीन कविता को इस युग के आलोचकों ने केवल शृंगारी कविता कह कर शान्ति की माँस न ली, वरन् उसे 'विनाशकारी' आदि नामों से विभूषित किया। वर्तमान आलोचक साहित्य को जनता के लिये मानते हैं, न कि जनता को साहित्य के हेतु। वर्तमान काल में प्रणय-गीतों तथा स्वप्न-संसार को काव्य में चित्रित देखने मात्र से जनता का हित न होता देखकर आलोचकों ने उसकी तीव्र आलोचना की। वे काव्य को जीवन के निकट देखने के लिये लालायित रहते हैं। ठीक भी है, नायिकाओं के नख-शिख से साहित्य की भूख भले ही मर जाय परन्तु समाज को उससे क्या? अतः इस युग के आलोचकों ने 'कल्पना' और 'स्वप्न-संसार' में विचरने-वाले कवियों की कठोर आलोचना की। वे कवियों की सुरीली बाँसुरी से मानव दुर्दशा की करुण रागिनी सुनना चाहते थे। फलतः इसका प्रभाव अच्छा पड़ा। कवि-समुदाय को आलोचकों की यह बात तर्क-

पूर्ण जान पड़ी और उन्होंने अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन स्वीकार किया। महाकवि 'निराला' ने 'कुकुरमुत्ता', पन्त ने 'ग्राम्या', 'सुमन' जी ने 'बंगाल का अकाल', भगवतीचरण वर्मा ने साहित्य में 'चरमर चरमर चँ चरर मरर' करते हुए 'भैंसागाड़ी' को चला दिया। नैपालाजी ने 'जीवन के चौराहे' पर मिले हुये दो हृदयों को छोड़ कर गाया—'कल्पना करो, नवीन कल्पना करो।' यह कल्पना काव्य की कल्पना न होकर वास्तविक जीवन में सम्बन्धित कल्पना है। महादेवी वर्मा ने 'अटूट असन्तोष' को तिलाञ्जलि देकर ममता पूर्ण हृदय से लुधातों की ओर देखा और साहित्य को 'वंग-दर्शन' कराया। यह सब क्या है? किसके प्रभाव से यह परिवर्तन हुआ? इस युग के प्रमुख आलोचकों ने ही कवियों की आँख खोलकर देश की दशा का दर्शन कराया। इस प्रकार काव्य को जीवन के इतना निकट लाने का श्रेय इस युग के आलोचकों को है। अपने उद्देश्य में सफलता पाए हुए इन आलोचकों में जैनेन्द्रकुमार, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० केसरीनारायण शुक्ल तथा शान्ति-प्रिय द्विवेदी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक काव्य धारा में डॉ० केसरीनारायण शुक्ल ने नवित और स्पष्ट रीति से इस ओर सराहनीय प्रयत्न किया। प्रस्तुत पुस्तक के तृतीय खण्ड में डॉ० शुक्ल ने क्रान्तिवादी कविता, देश-भक्ति की कविता-शीर्षक परिच्छेद में साहित्य में क्रान्ति और देश-भक्ति-पूर्ण विचारों की अभिव्यक्ति का उत्साहपूर्वक माधुवाद किया है। "रीति काल की शृंगारी कविता में बाह्य सौंदर्य और चेष्टा का निरूपण अधिक हुआ है। उसमें अन्तर्बुद्धि की व्यञ्जना कम हुई है।" प्रेम की कविता के प्रति डॉ० शुक्ल के विचार स्पष्ट करने के लिये यह वाक्य पर्याप्त है—

"यद्यपि 'प्रकृत कविता' और 'रहस्यवादी कविता' में डॉक्टर साहब

ने यत्र तत्र उसकी प्रशंसा की अवश्य है, परन्तु न तो उसमें हृदय का सहयोग ही है, न देश के लिए लाभप्रद ही है ।”

कवियों की इस प्रवृत्ति के आलोचकों में हमारे राष्ट्रीय कवि मैथिली-शरण गुप्त का भी उल्लेख आवश्यक है । युग के महान् कवि और प्रति-निधि कवि गुप्तजी कवि-हृदय के उत्कृष्ट पारखी हैं । मानव-जीवन से दूर—बहुत दूर कल्पना और सौंदर्य-वर्णन से युक्त कविता की आलोचना गुप्तजी ने इस प्रकार की है:—

“उद्देश्य कविता का प्रमुख शृंगार रस ही हो गया,
उन्नत होकर मन हमारा अब उसी में खो गया !
कवि-कर्म कामुकता बढ़ाना रह गया देखो जहाँ,
वह वीर रस भी स्मर-समर में हो गया परिणत जहाँ ।”
“सोचो हमारे अर्थ है यह बात कैसे शोक की—
श्रीकृष्ण की हम आड़ लेकर हानि करते लोक की ।
भगवान को साक्षी बनाकर यह अनङ्गोपासना,
है धन्य ऐसे कविवरों को, धन्य ऐसी वासना ।”^१

इस प्रकार गुप्तजी ने ‘भारत-भारती’ में साहित्यकारों पर बड़ी तीव्र तथा व्यंग्य-पूर्ण आलोचना की है । कवि से भविष्य में देश, धर्म, समाज और मानव-वर्ग की उन्नति की कविता करने की प्रार्थना करते हुए गुप्त-जी की आलोचना पठनीय है:—

“करते रहोगे पिष्ट पेपण और कब तक कविवरो,
कच, कुच, कटाक्षों पर अहो अब तो न जीते जी मरो ।
हैं बन चुका शुचि अशुचि अब तो कुरुचि को छोड़ो भला,
अब तो दया करके सुरुचि का तुम न घोटो यों गला”^२

कवि के धर्म की ओर संकेत करते हुए गुप्तजी की आलोचना पठनीय है:—

“केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिये” ।^१

तथा:—

“संसार कविता में अनेकों क्रान्तियाँ हैं कर चुकी,
 मुरझे मनो में वेग की विद्युत प्रभाएं भर चुकी ।
 है अन्ध सा अन्तर्जगत कवि रूप सविता के बिना,
 सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सुकविता के बिना” ॥^२

गुप्तजी ने जीवन से दूर कविता को निष्फल माना है ।

‘रहस्यवाद’ द्वितीय उत्थान और तृतीय उत्थान में काव्य की एक प्रधान शैली गिनी जाने लगी, परन्तु वह दैनिक जीवन से इतनी दूर है कि उसे स्वयं कवियों ने निष्फल समझा और गुप्तजी के समान अन्य कवियों ने इसे सारहीन बताया । ‘रहस्यवाद का निर्वासन’ कविता से इसका कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं:—

“क्या होगा गाकर अनन्त का नीरव औ मधुमय संगीत ,
 मलयानिल की उच्छ्वासों का अस्फुट अनुपम राग पुनीत ।
 कनक रश्मियों के गौरव से होगा क्या दुखियों का त्राण ,
 रुखी ही रोटी में जिनको है यथार्थ जीवन का प्राण ।
 होगा क्या बनवाकर कविते ! तुहिन विन्दु की निर्मल माल ,
 विस्मृति के असीम सागर में फैलाकर स्वप्नों का जाल ।
 निष्फल है निर्मम अतीत का मायायुत रहस्यमय गान ,
 सार रहित है उस अनंत की सुखमय मन्द मंदिर मुस्कान ” ॥^३

१—भारत-भारती पृष्ठ १७१ ।

२— „ „ „ १७२ ।

३—सरस्वती खण्ड ३७, संख्या ३ ।

तथा:—

“रूखी रोटी या रहस गान !

देखूँ अरुण उषा की लाली या तन के मुरझाये प्राण” ॥’

में भी जीवन से दूर कल्पना और मस्तिष्क द्वारा निर्मित जगत् की आलोचना मिलती है ।

वर्तमान काल में एक नवीन प्रवृत्ति यह दीख पड़ती है कि केवल आलोचक ही नहीं, वरन् कवियों ने भी मानव-वर्ग के लाभार्थ शृंगार और छायावाद इत्यादि के आवरण में आवृत कविता की आलोचना की । न तो द्वितीय उत्थान में और न भारतेन्दु-युग में कवियों ने अपना ध्यान इस ओर आकृष्ट किया ।

यथार्थवाद के पक्षपाती आलोचकों के द्वारा ही साहित्य में प्रगतिवाद का प्रारम्भ हुआ । कुछ ही समय के अन्दर प्रगतिवादी दृष्टिकोण कवियों में अधिक प्रिय हो गया । यह प्रगतिवाद और कुछ नहीं दूसरे शब्दों में आज की समस्याओं का सूक्ष्मातिस्क्ष्म चित्रण है । प्रगतिवाद को आज के आलोचकों ने देश और साहित्य के लिये श्रेयस्कर निर्धारित किया । प्रगतिशील कविता की ओर कवि लोग इतना आकृष्ट हुए कि ‘निराला’, पन्त, महादेवी इत्यादि ने भी अपना दृष्टिकोण बदल दिया, और प्रगतिवाद के उपासक बने ।

हिन्दी के तृतीय उत्थान में आलोचक देश-भक्ति-पूर्ण कविता की ओर अधिक आकर्षित रहे । वर्तमान काल राजनीतिक संघर्ष का प्रधान समय है । इस समय इसी देश में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से राजनीतिक विषयों पर प्रकाश डाला जा रहा है । पर सब के मूल में देश-सेवा का भाव निहित है । कवि लोग इस ओर अधिक झुके । कवियों के साथ आलोचकों की रुचि बदली ।

द्वितीय उत्थान में आलोचना साहित्य तुलनात्मक शैली के

दलदल में फँसा रहा । तुलनात्मक आलोचना का प्राधान्य तो यहाँ तक रहा कि आलोच्य कवियों की तुलना में अनेक ग्रन्थ रच डाले गये । 'देव-विहारी', 'विहारी-देव', 'कालिदास की निरंकुशता' इत्यादि इसके प्रमाणस्वरूप उपस्थित हैं । परन्तु तृतीय उत्थान अथवा वर्तमान काल में यह प्रवृत्ति दब गई । इस समय साहित्य के सभी अंगों की आलोचना सविस्तार होने लगी । कवि की अलग-अलग निबन्धों के रूप में आलोचना करने की पद्धति के यद्यपि प्रवर्तक आचार्य शुक्लजी तथा मिश्रबन्धु हैं, परन्तु इस पद्धति का अधिक अनुसरण उस समय नह किया जा सका ।

द्वितीय उत्थान में साहित्य-समालोचना के नाम पर केवल डॉ० श्यामसुन्दरदास का उल्लेख किया जा सकता है । साहित्य-समालोचना एक कठिन और गंभीर कार्य है । भारतेन्दु-युग में तो इसका पूर्ण अभाव रहा । परन्तु तृतीय उत्थान में इस ओर प्रशंसनीय कार्य किया गया । डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री ने इसी समय 'साहित्य-मीमांसा' की रचना की और उससे हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थियों को लाभान्वित किया । डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'साहित्य-समालोचना' में साहित्य के चार अंगों की गम्भीर आलोचना की । साहित्य समालोचना यों तो नीरस विषय होता है, परन्तु डॉ० वर्मा ने उसे जितना रोचक बनाया जा सकता है, बनाया । इसी उत्थान में श्रीविश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'वाङ्मय मिश्र' जैसे साहित्य-समालोचना पर अद्वितीय ग्रन्थ की रचना की । इस कोटि के ग्रन्थ हमारे साहित्य में बहुत कम हैं । 'काव्य-कल्पद्रुम' जैसे विशालकाय साहित्य-समालोचना-सम्बन्धी ग्रन्थ की रचना इसी समय पोद्दारजी ने की । संस्कृत के मूल ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' और 'रसगंगाधर' का अनुवाद इसी समय श्रीहरिमङ्गल मिश्र तथा पुरुषोत्तम शर्मा ने किया । रस और अलंकार पर मिश्रबन्धु एक अत्यन्त गम्भीर और विस्तृत ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं । उसका कुछ भाग छपकर तैयार हो चुका है ।

वर्तमान काल में ही डॉक्टर 'रसाल' और डॉक्टर 'मनोज' को साहित्य-समालोचना पर नवीन ग्रन्थ लिखने के कारण 'डाक्टरेट' की उपाधि प्रयाग-विश्वविद्यालय ने दी । लखनऊ-विश्वविद्यालय में श्रीभागीरथ मिश्र 'काव्य-शास्त्र' पर खोज कर रहे हैं ।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन की एक नवीन प्रणाली इस उत्थान में चल पड़ी है । तृतीय उत्थान में आलोचना का प्रभाव यहाँ तक पड़ा कि इतिहास-लेखक भी उससे न बच सके । साहित्य के इतिहास-कार का कर्तव्य एक आलोचक से बहुत भिन्न है । परन्तु इधर कुछ समय से इतिहासकारों ने आलोचकों का रूप धारण कर लिया है । आचार्य शुक्लजी के इतिहास में कहीं-कहीं बड़े विस्तार के साथ आलोचना की गई है । इसी समय डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री ने 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' की रचना की । जैसे शीर्षक से ज्ञात होता है कि यह इतिहास विवेचना-प्रधान है । विवेचना अधिकतर आत्मप्रधान हुई है । इतिहासकार कवियों के भावों के साथ इतना बह गया है कि एक-एक कवि के काव्य की विवेचना प्रायः चालीस-पैंतालीस पृष्ठों में हुई है । डॉ० रामकुमार वर्मा के 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' की रचना इसी समय हुई और अपने ढंग का उत्कृष्ट ग्रन्थ निर्धारित हुआ ।

साहित्य के इतिहास की आलोचनात्मक रीति से अध्ययन की प्रवृत्ति दिन पर दिन बढ़ती हुई दिखाई दे रही है । प्रयाग-विश्वविद्यालय इस ओर अधिक प्रयत्नशील दिखाई दे रहा है । डॉ० लक्ष्मीसागर वाष्णीय ने 'हिन्दी-साहित्य के विकास' (१८५०—१९००) का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया और डॉ० श्रीकृष्णलाल ने १९००—१९२५ तक के विकास पर एक निबन्ध प्रस्तुत किया ।

तृतीय उत्थान में आलोचना-पद्धति में एक और नवीन प्रवृत्ति का समावेश हुआ । इस समय साहित्यिक विषयों की आलोचना पुस्तक

कार में प्रकाशित की गई । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक की नवीन शैली के आधार पर रचना की । प्रस्तुत पुस्तक में रहस्यवाद के विकास तथा उसकी ओर बढ़ती हुई रुचि की गम्भीर आलोचना की गई है । यह पुस्तक इतने गम्भीर अध्ययन के पश्चात् लिखी गई है कि अपने विषय पर अद्वितीय निर्धारित की गई । यद्यपि 'काव्य में रहस्यवाद' की कोटि की अधिक पुस्तकें इस समय नहीं लिखी गई, तथापि इस ढंग की अनेक रचनाएँ हुई, जिनमें लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' लिखित 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' तथा 'काव्य में अभिव्यञ्जनावेद' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । इस प्रकार की रचनाएँ द्वितीय उत्थान में हमें दिखाई नहीं देती ।

भाषा की आलोचना सम्बन्धी इस समय अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ हुई । द्वितीय उत्थान के अन्त और तृतीय उत्थान के आरम्भ में भाषा विषयक अध्ययन विश्वविद्यालयों में स्वीकृत हुआ । इस प्रकार की सर्वप्रथम 'भाषा-विज्ञान' विषयक पुस्तक के रचयिता डॉ० श्यामसुन्दरदास हैं । डॉ० श्यामसुन्दरदास के पश्चात् डॉ० बाबूराम सक्सेना, डा० मङ्गलदेव शास्त्री, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं ।

इस वर्तमान काल में काव्य के दोषों की ओर संकेत करने के अलावा उसकी विशेषताओं और कवियों की अन्तःप्रवृत्तियों की अधिक छानबीन होने लगी । तुलसी, सूर, जायसी, गोरखनाथ की पुस्तकाकार आलोचनाएँ भी बाहुल्य के साथ हुई । आचार्य शुक्लजी ने गोस्वामी तुलसीदास नामक पुस्तक की आलोचना में गोस्वामीजी के काव्य पर सविस्तार प्रकाश डाला । 'भ्रमर-गीत-सार' और 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका में क्रमशः सूर तथा जायसी की विस्तृत विवेचना की गई । डॉ० बड़थवाल लिखित 'कबीर-ग्रन्थावली' की भूमिका अपने

ढंग की अनुपम है जिसमें कबीर के काव्य और सिद्धान्तों की मार्मिक आलोचना की गई है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में उसके पश्चात् “कलाओं और साधनाओं का तौता बँधा और ‘१—केशव की काव्य-कला, २—गुप्तजी की कला, ३—प्रसाद की नाट्य कला, ४—प्रसाद की काव्य-साधना, ५—मीरा की प्रेम-साधना……” इसमें से कुछ पुस्तकें तो आलोचना की असली पद्धति पर निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक दोनों ढंग लिये हुए चलीं तथा कवि के बाह्य और अंतरंग, दोनों का अच्छा परिचय देत हैं।”^१ पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने ‘केशव की काव्य-कला’ और ‘कविवर रत्नाकर’ में गम्भीर तथा विद्वत्तापूर्ण आलोचना की है। इन दोनों पुस्तकों में कवियों की विशेषताओं का मार्मिक ढंग से उल्लेख हुआ है। ‘मीरा की प्रेम-साधना’ में मीरा के भावों का सुन्दर उद्घाटन हुआ है। इस पुस्तक की रचना भावात्मक शैली के आधार पर हुई है।

‘हमारे साहित्य निर्माता’ में श्रीरान्तिप्रिय द्विवेदी ने वर्तमान कवियों और लेखकों की प्रवृत्तियों और विशेषताओं का अपने ढंग पर अच्छा आभास दिया। ‘युग और साहित्य’ में शान्तिप्रिय ने महादेवी, ‘निराला,’ ‘प्रसाद’ इत्यादि की प्रवृत्तियों का गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया है। द्विवेदीजी की ‘सामयिकी’ और ‘साहित्यिकी’ में भी विभिन्न कवियों और लेखकों की मार्मिक व्याख्यायें मिलती हैं। वर्तमान आलोचकों में द्विवेदीजी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उच्च है।

इस उत्थान में भूमिका के रूप में आलोचना करने की एक नवीन प्रथा चल गई है। पुस्तकों की भूमिका का लक्ष्य और ध्येय इस समय कुछ बदल चला। अब भूमिकाओं में लेखक न केवल अपनी रचना के विषय में विचार प्रकट करता है, वरन् अपने युग में सृजित अन्य

साहित्य पर भी आलोचनात्मक विचार प्रकाशित करता है। भूमिकाओं का विस्तार आजकल चालीस-पचास पृष्ठों तक हो गया है। 'कवि का दृष्टिकोण', 'प्राक्थन', 'दो शब्द', इत्यादि भूमिका के परिवर्तित स्वरूप हैं। इस प्रकार भूमिकाओं से आलोचना साहित्य की श्रीवृद्धि में बड़ी सहायता पहुँची। महादेवी वर्मा ने अपनी 'दीपशिखा' की भूमिका प्रायः २३ बड़े पृष्ठों में लिखी और पन्त के 'पल्लव' की भूमिका ने ४२ पृष्ठ ले लिये।

हिन्दी के तृतीय उत्थान में जिस प्रकार विभिन्न कवियों पर अलग अलग आलोचनात्मक पुस्तकें निकलीं, उसी प्रकार आलोचकों ने विविध विषयों पर विवेचनात्मक ग्रन्थों की रचना की। द्वितीय उत्थान में इस प्रकार की आलोचना का अभाव था। इस समय इन समीक्षात्मक ग्रन्थों की प्रचुरता के साथ रचना की गई, जिनमें विशेष रूप से 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'कुछ विचार', उल्लेखनीय है।

इस समय आलोचकों में एक नवीन प्रवृत्ति का समावेश हुआ जिसका प्रथम अथवा द्वितीय उत्थान में बिल्कुल अभाव था। इस युग के आलोचकों ने अपने को केवल हिन्दी तक ही नहीं सीमित रक्खा वरन् उन्होंने अन्य साहित्यों के भी पृष्ठ उलटे और उनपर प्रकाश डाला। यह आवश्यकता थी कि हिन्दी के साहित्यिकों को अन्य साहित्यों से परिचित कराया जाय। फलतः विद्वानों ने प्रयत्न किया और उनके प्रयत्न 'जेबुनिसा के आँसू', 'कविता कौमुदी', 'उर्दू कवियों की हिन्दी सेवायें' के रूप में पुष्पित हुए।

वर्तमान काल तक हिन्दी का आकार-प्रकार बहुत कुछ सुधर चुका था। इस समय भाषा और व्याकरण सम्बन्धी भूलों को प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं है। यह दोनों कार्य प्रथम दो युगों में ही सम्पन्न हो चुके थे। इस समय आलोचकों की दृष्टि शैली की विवेचना

पर गई। विद्वानों ने शैलियों का आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन किया। इस विषय पर सर्वप्रथम श्रीकृष्णापति त्रिपाठी ने 'शैली' शीर्षक पुस्तक लिखी। इसी उत्थान में 'हिन्दी गद्य शैली का विकास' नामक पुस्तक की रचना श्रीजगन्नाथ शर्मा ने की। श्री प्रेमनारायण टण्डन ने 'हिन्दी लेखकों की शैली' पुस्तक लिखी।

अद्यपि हिन्दी की इस समय तक पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी, तथापि इसके लेखकों और संस्थाओं इत्यादि का एकत्र लेखा अभी तक नहीं प्रस्तुत हुआ था। परन्तु हर्ष का विषय है कि श्रीकालिदास कपूर तथा प्रेमनारायण टण्डन ने 'हिन्दी सेवी-संसार' की रचना करके आलोचना साहित्य के एक महान् अभाव की पूर्ति कर दिया।

वर्तमान काल में हमारे आलोचकों में एक नवीन प्रवृत्ति प्रवेश पा रही है। कुछ आलोचक योरोपीय विद्वान् टाल्सटाय, गेटे, बर्नर्ड शा इत्यादि के कला सम्बन्धी एकदशैय तथा अत्युक्त मतों के उद्धरण देकर अपनी रचनाओं की शोभा बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें इस बात की ऐशमात्र चिन्ता नहीं रहती कि उद्धृत वाक्य अथवा मत उस स्थान पर कहाँ तक फबता है या नहीं। प्रायः उद्धृत अंश और रचना में विचारसाम्य भी नहीं रहता।

यहाँ तक इस युग की परिस्थितियों और आलोचकों में विद्यमान प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है, अब देखना यह है कि किन कारणों तथा साधनों ने आलोचकों में इस नवीन प्रवृत्तियों को जन्म दिया।

मुद्रण यंत्रालयों की सुविधा प्रथम उत्थान के बाद धीरे-धीरे बढ़ती गई। द्वितीय उत्थान तक यह सुविधा सर्व साधारण के लिये उपलब्ध हो गई। तृतीय उत्थान तक साहित्य का रिक्त भाण्डार और भी पूर्ण होने लगा। पारस्परिक आदान प्रदान के कारण आलोचना-शैली में एक महान् परिवर्तन समुपस्थित हो गया।

संभालों की सुविधा के कारण पत्रसाहित्य में पर्याप्त वृद्धि हुई।

प्रत्येक मास पत्रों में प्रकाशित आलोचनाओं के कारण लेखकों की शैली भी परिमार्जित हो गई और साहित्य सृजन भी अबाध गति से होने लगा ।

रेडियो की नीति, यद्यपि हमारे साहित्य के हेतु कभी स्वास्थ्यप्रद नहीं रही है; फिर भी नवीन पुस्तकों की आलोचना करने के लिये, आलोचकों को कभी-कभी समय दिया जाता है । नवीन प्रकाशनों की समीक्षा के रूप में भी हिन्दी की पर्याप्त आलोचनाएँ की गई ।

सभापति जैसे सम्मानित आसनों पर से प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा दिये गये भाषणों का भी आलोचना की दृष्टि से महत्त्व है । विद्वानों ने प्रायः ऐसे भाषण दिये जो हमारे साहित्य के रत्न कहे जा सकते हैं । इस प्रकार के भाषणों में शुक्लजी का इन्दौरवाला भाषण तथा डॉ० बड़थवाल का ओरियंटल कान्फ़्रेंस का भाषण महत्त्व-पूर्ण है ।

उपसंहार

हिन्दी-आलोचना-शिशु के जन्म तथा विकास का संक्षिप्त इतिहास इन पृष्ठों में चित्रित किया गया है । हिन्दी आलोचना के विकास का इतिहास अत्यन्त रोचक है । उसमें विकास के लक्षण देखकर उत्साह बढ़ता और आशा की ज्योति प्रज्वलित हो उठती है । परन्तु आलोचना का कोई बृहत तथा दीर्घ कालीन इतिहास नहीं है । हमारा आलोचना साहित्य अधिक से अधिक डेढ़ सौ वर्ष पुराना है । अधिक समय नहीं हुआ जब परमपूज्य भारतेन्दु तथा उसके समकालीन साहित्यिक बृन्द ने इसे अपनी यशस्वी तथा परिमार्जित सुलेखनी द्वारा सुचारु स्वरूप प्रदान किया था । उसके पश्चात् द्वितीय उत्थान में श्री मिश्रबन्धु तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इत्यादि गम्भीर विद्वानों ने इसके रिक्त अंगों में नवीन

आलोचना व निबन्ध

रुधिर का सञ्चार करके इसे पुष्ट तथा सुष्ठु स्वरूप प्रदान किया था तत्पश्चात् हमारे तृतीय उत्थान के योग्य तथा मार्मिक आलोचकों ने इस ओर स्तुत्य प्रयत्न किया। आज हमारी इन संघर्ष-प्रधान परिस्थितियों ने असहाय दुर्बल मानव के हृदय को विचलित कर दिया है। बेचारा मानव अन्न, वस्त्र तथा आश्रय की खोज में व्यग्र हो उठा है। उसके मस्तिष्क को शान्तिमय वातावरण की आवश्यकता है, परन्तु वह दुर्लभ है।

इन विपन्न परिस्थितियों में विश्व साहित्य सृजन की धारा मन्द होगई है। ठीक यही दशा हमारे आलोचना साहित्य की भी है, परन्तु इसमें हतोत्साह होने की बात ही क्या है ? समय दूर नहीं जब विश्व शान्ति की मुरलिका से मधुर राग फूट पड़ेंगे और नवीन स्फूर्ति जाग्रत हो उठेगी।

हमारे आलोचक भी बन्धन में ही उत्पन्न और बंधन में ही रचनात्मक कार्य कर रहे हैं। उन्हें विश्व-व्यापी पेट पीड़ा के कष्ट से मुक्ति नहीं है। परन्तु उज्ज्वल भविष्य देख कर कुछ शान्ति का अनुभव हो रहा है।

हमारे आलोचकों में दो बातों की कमी दृष्टिगोचर होती है। प्रथम मानवीय गुण सहानुभूति का, उनमें अभाव प्रतीत होता है। द्वितीय अभाव गम्भीर अध्ययन का है। यह दोनों अभाव तनिक उदारता और परिश्रम से दूर हो सकते हैं।

हमारी आलोचना के हेतु संस्कृत आलोचना पद्धति श्रेयंकर है। जिसके अनुसरणकर्ताओं में मिश्रबन्धु उल्लेखनीय हैं। यदि आलोचक इसी पद्धति का आश्रय ग्रहण करके चले तो कल्याणकारी साहित्य समालोचना हो। परन्तु उसमें पाश्चात्य शैली का भी सहयोग हो तो 'स्वर्ण में सुगंध' वाला कदावत चरितार्थ हो जायगी।
